'कामायनी'-अनुशीलन

लेखक

रामलाल सिंह एम०ए०बी०टी० 'साहित्यरत्न'

(हिन्दी-अध्यापक, टीचर्स ट्रेनिङ्ग कालेज, उदयपुर)

प्रकाशक

इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग

२००२

प्रथम संस्करण

समर्पण-पत्र

मातृभाषा प्रसादेन मातृपुण्य प्रसादतः ।
प्रणीतं पुस्तकम् मातः तव पुत्रेण यत्नतः ॥
पूजाविधिविमूढ़ेन दीनहीनेन सूनुना ।
तन्मात्रमर्घ्यरूपेण रामलालेन दीयते ॥
मातुश्चरणयोर्भक्त्या प्रणम्येति पुनः पुनः ।
प्रार्थ्यते कृपया देवि गृहाण पुत्रवत्सले ॥

"चेतना का सुन्दर इतिहास,
अखिल मानव भावों का सत्य;
विश्व के हृदय पटल पर दिव्य
अक्षरों से अंकित हो नित्य।"

—'कामायनी'

प्राक्कथन

श्रद्धा हमारे जीवन की मातृ, धातृ तथा विधातृ रही है। मैंने जीवन में प्रयत्न, अभ्यास, विश्वास, आशा, शक्ति, ज्ञान, भक्ति, कर्म तथा आनन्द का दर्शन श्रद्धा के रूप में किया है। श्रद्धा जीवन का वह परम तत्व है जिसके द्वारा परम सत्य का अखंड दर्शन होता है। श्रद्धा के अभाव में हमारी भक्ति अन्धी, हमारा ज्ञान लँगड़ा, हमारा कर्म पाखंडी, हमारी वृत्ति व्यभिचारी, हमारी प्रवृत्ति दूषित एवं हमारे प्रयत्न कलुषित हो जाते हैं। हमें बुद्धि-गम्य, दृष्टि-गम्य, तथा आत्म-गम्य—किसी विषय पर विश्वास नहीं होता। अश्रद्धा घोर मोह-निद्रा, घोर अधःपतन तथा सर्वस्व नाश है। 'कामायनी'-गत इसी 'श्रद्धा' के दर्शन ने 'कामायनी-अनुशीलन' का अङ्कुर उत्पन्न किया। सर्वप्रथम गुरुदेव पं० सीताराम जी चतुर्वेदी ने अपनी प्रेरणा द्वारा इसे प्ररोहित किया। तदनन्तर गुरुदेव पं० केशवप्रसाद जी मिश्र ने अपने विद्वत्तापूर्ण मधुर अध्यापन द्वारा इसे पल्लवित किया। इसके पश्चात् गुरुदेव पं० विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र ने अपनी साहित्यिक मन्त्रणाओं द्वारा इसे वर्धित तथा पुष्पित किया। यहाँ तक इस पुस्तक का रूप एम० ए० परीक्षा के 'प्रबन्ध' रूप में था। बाद को इसमें 'ऐतिहासिक तत्व,' 'युग की अभिव्यक्ति' तथा परिशिष्टांश जोड़कर प्रस्तुत पुस्तक का रूप तैयार हुआ। इन परवर्ती अध्यायों में तथा पहले भी गुरुदेव पं० नन्द-दुलारे जी वाजपेयी से समय-समय पर जो साहित्यिक सम्मतियाँ मिलीं, उनका ऋण नहीं चुकाया जा सकता। इसे प्रकाश में लाने का सर्वस्व श्रेय गुरुवर वाजपेयी जी को ही है। उपर्युक्त

सभी गुरुदेवों की आभार-स्वीकृति में धन्यवाद देना तुच्छ समझ कर मै उनका सादर अभिवन्दन करता हूँ। इसके अतिरिक्त जिन-जिन ग्रंथकारों तथा विद्वानो से प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी प्रकार की सहायता मिली है, उनके प्रति सच्चे हृदय से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

'कामायनी-अनुशीलन' का पथ प्रस्तावना में मैने बता दिया है। अतः उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं। यदि उस पथ से चलकर पाठकों को 'कामायनी' का दर्शन हो सका, तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

जिस प्रकार,'कामायनी' में प्रलय तथा सृष्टि, दोनों की कहानियाँ छिपी है, तद्वत् 'कामायनी' का अनुशीलन भी मेरे जीवन के प्रलय तथा सृष्टि दोनों कालो में हुआ है। मेरे जीवन के प्रलय-काल ने ही इसे सृष्टिभूमि पर लाने मे विलम्ब किया। प्रथम, मैसूर-यात्रा मे 'अनुशीलन' की हस्तलिपि ही रेल मे खो गई थी जो आठ महीने पश्चात् मिली। अनंतर क़त्ल के एक मुकदमें की पैरवी ने जीवन को इतना अस्त-व्यस्त बना दिया था कि मेरा साहित्यिक जगत् से साथ ही छूट गया था। इन्हीं उपर्युक्त व्यस्तताओ के कारण पुस्तक का प्रकाशन ठीक समय पर न हो सका।

अन्त में इस पुस्तक में मुझसे जो भूलें हुई हैं तथा जो अपराध बन पड़े हैं, उनकी क्षमा-याचना करना अपना कर्तव्य समझता हूँ।

कृष्ण-जन्माष्टमी
मातृ-मन्दिर, काशी। }

रामलाल सिंह

प्रस्तावना

साहित्य के विकास के साथ-साथ उसका मानदण्ड भी विकसित होता रहता है। लक्षण-ग्रन्थ लक्ष्य ग्रन्थो. के ही आधार पर बना करते है। लक्ष्य-ग्रन्थो के स्वरूप में ज्यों-ज्यो अन्तर उपस्थित होगा त्यो-त्यो लक्षण-ग्रन्थ भी परिवर्तित होते जायँगे। वस्तुतः लक्षण-ग्रन्थ किसी लक्ष्य-ग्रन्थ (कृति) के समझने मे सहायता पहुँचाने ही के लिए निर्मित होते हैं, साहित्य को बाँधकर गतिहीन बनाने के लिए नहीं। साहित्य के मूल सिद्धान्त तो स्थिर रहते है, किन्तु उनको व्यक्त करनेवाली पद्धतियाँ बदलती रहती हैं। इन नई-नई पद्धतियो के नियमोपनियमो का निरूपण समय-समय पर समीक्षक किया करते है। आलोचक या समीक्षक का लक्ष्य साहित्य का ऐसा नियन्त्रण करना है जिससे वह उत्तरोत्तर विकसित होता रहे अन्यथा साहित्य के विकास में बाधा पड़ेगी। यदि वह अनावश्यक प्राचीनता का त्याग एव आवश्यक नवीनता को ग्रहण करने की अभिरुचि नही दिखलावेगा तो मौलिक कवि या लेखक साहित्य मे नूतनता लाने में सङ्कोच करेंगे और साहित्य का विकास अवरुद्ध हो जायगा। अस्तु, यदि कोई नया कृतिकार अपनी कृति मे परम्परा का पालन न कर रहा हो तो समीक्षक को सबसे पहले यह देखना चाहिए कि वह प्रणेता है किस पानी का। क्योकि असाधारण प्रतिभासम्पन्न कवि केवल परम्पराबद्ध रचना नहीं करता, वह साहित्य-क्षेत्र में नई-नई वीथियाँ भी बनाता

चलता है, सामाजिक जीवन की गति-विधि के अनुसार अपने साहित्य की रूप-रेखा भी बदलता चलता है। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि किसी समीक्षा में व्यष्टि को प्रधानता दी जाय, समष्टि को नहीं। प्रयोजन इतना ही है कि प्राचीन कहकर किसी को सिर-माथे रखना और नवीन कहकर किसी को निरख-परख के बिना त्याग देना ठीक नहीं। बिना ठीक-ठीक पहचाने किसी का संग्रह या त्याग उचित नहीं है। पुराने के सग्रह और नये के त्याग के विषय में मालविकाग्निमित्र नाटक की प्रस्तावना में कालिदास ने जो कुछ कहा है वह समीक्षा का मानदण्ड होने योग्य है—

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धि.॥"

समीक्षक को किसी कृति की परख के लिए तटस्थ* होना आवश्यक है क्योंकि वह बिना तटस्थ हुए सत्समालोचना का पथ नहीं पकड़ सकता। आलोचक का काम कर्ता का वकील होना नहीं, पाठक का सहायक होना है। वह जीवन तथा साहित्य दोनो दृष्टियो से उसे रचना के श्रेय तथा प्रेय स्वरूप को समझाता है एवं उद्वेग-जनक बातो को अग्राह्य कहकर उन्हे लक्षित कराता है। किन्तु तटस्थ होने का अर्थ कृति से दूर ही दूर रहना नहीं वरन् निष्पक्ष रहना मात्र है। समीक्षक जब तक सहृदय नहीं होगा अर्थात् कवि के हृदय के साथ अपने हृदय को मिला नहीं देगा तब तक वह कर्ता के हृदय को परख ही कैसे सकेगा? वह कर्ता की भावना से भावित हुए बिना उसकी काव्य-भूमिका में प्रवेश ही नहीं कर सकता, उसकी गति-विधि का निरीक्षण भला क्या करेगा? इस प्रकार समीक्षक के उत्तरदायित्व चार प्रकार के

दिखलाई पड़ते है—१ पाठक के प्रति, २ कवि के तथा अपने प्रति, ३ जीवन के प्रति तथा ४ साहित्य संस्कार के प्रति। वर्तमान समीक्षा के प्रधान चार भेद इन्हीं उत्तरदायित्वो के आधार पर जान पड़ते हैं:—

१—व्याख्यात्मक या विवेचनात्मक समीक्षा	पाठक या कवि के प्रति दायित्व
२—प्रभाववादी	कवि के प्रति तथा अपने प्रति उत्तरदायित्व
३—सैद्धान्तिक	जीवन दर्शन के प्रति दायित्व
४—निर्णयवादी या परम्परावादी समीक्षा	साहित्य संस्कार के प्रति दायित्व

किन्तु ये भेद समीक्षक के किसी एक दायित्व पर विशेष ध्यान देने के कारण स्वयं अपूर्ण, अधूरे तथा एकदेशीय हैं। पूर्ण समीक्षा तो वही मानी जायगी जिसमे समीक्षक के सभी उत्तर-दायित्वो का सम्यक् प्रकार से सम्पादन किया गया हो। निष्कर्ष यह कि प्रस्तुत ग्रन्थ की पूर्ण समीक्षा उपस्थित करने के लिए एक ओर पाठको की माँग को ध्यान मे रखना होगा, दूसरी ओर कवि के उद्देश्य को। एक ओर साहित्य की प्राचीन तथा नवीन गति-विधि के आलोक मे कृति का स्वरूप देखना आवश्यक होगा एवं दूसरी तरफ काव्यगत जीवन की ग्राह्य तथा अग्राह्य बातो को समझाना आवश्यक होगा।

हमारा साहित्य केवल अपनी परम्परा का रूप लेकर कोने में पड़ा नहीं है प्रत्युत यातायात तथा विचार-विनिमय की सुविधाओ के कारण विश्वसाहित्य के साथ उसका सपर्क हो गया है। विश्व-जीवन की प्रवृत्तियो का प्रभाव दृश्य तथा अदृश्य रूप मे हमारे जीवन तथा साहित्य दोनो पर पड़ रहा है। अत. किसी कृति

पर विचार करते समय-उसे विश्व-जीवन तथा विश्व-साहित्य की प्रवृत्तियों के सङ्क्रम में बिठाकर यह देखना आवश्यक है कि वह कितनी दूर तक उन प्रवृत्तियों के अनुकूल है और कितनी दूर तक प्रतिकूल, तथा वह प्रतिकूलता या अनुकूलता विकासमय जीवन के लिए कहाँ तक अग्राह्य या ग्राह्य है ?

कामायनी मे जीवन का स्वरूप वहीं तक आधुनिक है जहाँ तक वह अतीत आदर्शों की भित्ति पर खडा हो सकता है। विश्व-जीवन के विकास-पथ पर प्रसादजी चलना चाहते हैं परन्तु प्रयोग-सिद्ध वर्तमान का सम्बल लेकर। प्रयोगाधीन वर्तमान को अपनाने मे वे हिचकते है किन्तु उनकी यह हिचकिचाहट जीवन-संरक्षण तथा उसकी विकास-सिद्धि के लिए ही है, किसी अन्धानु-करण या परम्परावादिता का परिणाम नही। कामायनी में महाकाव्य का स्वरूप विश्वसाहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियो के मेल मे रक्खा गया है। किन्तु काव्य की अभिनव प्रवृत्तियों की स्वीकृति नूतनता के आह्वान के साथ-साथ प्राचीनता के विसर्जन रूप मे नहीं है। इसमे भारतीय काव्यो के उत्कृष्ट गुणो का पूर्ण समावेश करके विश्व-साहित्य के आकर्षक तथा उत्कर्ष-विधायक गुणो का सन्निवेश किया गया है। अपनी परम्परा एवं संस्कृति की रक्षा के साथ-साथ विश्वव्यापी अभिनव धारणाओ का मेल किया गया है। इस प्रकार कामायनी मे मध्यपथ का अनुगमन है।

संप्रति गद्य वाङ्मय की वृद्धि के साथ-साथ उपन्यासो की बाढ़ आ गई है। उपन्यासो ने वर्णनो पर अपना अखण्ड अधिकार जमाना आरम्भ कर दिया है। फलस्वरूप महाकाव्यो का वर्णन-तत्त्व उपन्यासों ने छीन लिया। इसलिए अब जो वर्णन-चमत्कार उपस्थित करना चाहते है वे प्रबन्ध-काव्य न लिखकर उपन्यास

ही लिखते है। अत: प्रबन्ध-काव्य (महाकाव्य) की वर्ण्यभूमि केवल भावभूमि ही शेष रह गई है। इसी से आधुनिक महाकाव्य वर्णनप्रधान न होकर भावप्रधान हो रहे है। क्या पूर्व क्या पश्चिम, सभी देशो के महाकाव्य प्राचीन काल से आदर्श की प्रधानता स्वीकार करते आये है। चाहे 'रामायण' या 'रघुवंश' को उठाइए चाहे पैरेडाइज लौस्ट या ऐनीड को—सबमे आदर्श की ही प्रधानता मिलेगी। किन्तु आज जीवन की गति मे भौतिक तत्त्व का अधिक समावेश होने के कारण जीवन के प्रतिबिम्ब-विधायक साहित्य मे आदर्श का परित्याग तथा यथार्थ का अभिनन्दन हो रहा है। कोई कहता है "जीवन स्वत: महत्त्व की वस्तु है अत: काव्य को उसी का प्रदर्शन* करना चाहिए। उसका कार्य उसके स्वरूप का निर्णय नही है। वह जीवन को व्यक्त करता है, उसकी व्याख्या नहीं।" कोई कहता है "काव्य को मानव जीवन के निरीक्षण† को लक्ष्य करना चाहिए, कथानक या इतिवृत्त को नहीं।" तात्पर्य यह कि प्राचीन काल मे महाकाव्य के कथानक और आदर्श-स्थापना पर जैसी दृष्टि थी वैसी आज नही है। अब मानव-जीवन की मनोवैज्ञानिक व्यंजना ही नवीन कवियो का साध्य होती है उनकी दृष्टि मे वस्तु या वृत्त तो इतिहास है, काव्य से उसका वैसा

---

* It has not to say life in the world ought to mean this or that but it has to show life unmistakably being significant It does not interpret the facts of life but recreates it

—The Epic (Abercrombie)

† The accent is not upon the plot but upon the observation of human life.

Modern study of English litr
—Moulton

सम्बन्ध नहीं जैसा इतिहास से है। कार्य-व्यापार (Action) भी मुख्यतः दृश्य-काव्य का तत्त्व है, श्रव्य काव्य का नहीं। इस प्रकार महाकाव्य का अपना तत्त्व मनोव्यापार-व्यंजना ही है। कार्य (Action) श्रव्य काव्य के क्षेत्र से स्पष्टतः बाहर निकाला जा रहा है। कहा जाता है* कि महाकाव्य की रोचकता का मुख्य कारण उसमें वर्णित अन्तर्वृत्तियों और उनके आध्यात्मिक परिणाम की नियोजना है, पात्रो का कार्य तो गौण है। विश्व-साहित्य की ये ही उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ कामायनी मे लक्षित होती है।

साहित्य के इतिहास पर विचार करने से यह प्रकट होता है कि इसमें परिवर्तन का क्रम उन-उन समयो की सामाजिक और सांस्कृतिक अवस्थाओ के अनुरूप ही होता आया है। ज्यों-ज्यो समय बदलता जाता है त्यों-त्यों देश की राजनीतिक, सामाजिक धार्मिक आदि स्थितियो मे परिवर्तन होते जाते है और प्रायः उसी क्रम से साहित्य-निर्माण की दिशाएँ भी बदलती जाती है। कवि पर उन स्थितियो का अनिवार्य प्रभाव पड़ता है। ज्ञात या अज्ञात रूप से उसकी साहित्यिक सृष्टि मे युग के संस्कार समाहित होते रहते है। कामायनी की अभिनवता भी युग के इन्हीं संस्कारो का परिणाम है।

प्रसादजी ने अपनी काव्य और कला नाम की पुस्तक मे पाठ्य-काव्य के बाह्य वर्णन आदर्शवाद, बुद्धिवाद आदि से विराग दिखाया है और भावपक्ष से अनुराग। वे काव्य का सहज धर्म, आत्मा की क्षण-क्षण में उत्पन्न होनेवाली सङ्कलनात्मक अनुभूति मानते

---

* In Epic interest tends to centre less round the deeds of men and more round their inner feeling and their spiritual hearing

(The study of Poetry)
—A R Entwistle.

है। इसी लिए काव्यों में उनकी दृष्टि भाव-सौन्दर्य ही पर विशेष रहती है। भाव-सौन्दर्य की इस विशेषता से युक्त रहने के कारण कामायनी कलात्मक या साहित्यिक महाकाव्य के अन्तर्गत आती है।* विलायत में महाकाव्य के दो वर्ग माने जाते है—

Epic of Growth सङ्कलनात्मक महाकाव्य,

Epic of Art कलात्मक या साहित्यिक महाकाव्य।

सङ्कलनात्मक महाकाव्य समाज की माँग पूरी करता है। उसकी शैली स्वाभाविक, सरल तथा सुबोध होती है। उसमें किसी साहित्यिक सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं रहता किन्तु कलात्मक महाकाव्य मे कवि की दृष्टि रचना-सौन्दर्य की ओर विशेष रहती है। फलत उसकी शैली में काव्य के उत्कर्ष-विधायक गुणो का समावेश रहता है। ऐसा काव्य साहित्यिक समाज मे ही अधिक समादृत होता है। कहने की आवश्यकता नही कि कामायनी का जितना समादर साहित्यिक समाज में होगा उतना जन-साधारण मे नहीं। हिन्दी के समीक्षक संस्कृति के ढर्रे पर महाकाव्यो के दो वर्ग मानते आए हैं,—घटना-प्रधान तथा चरित्र-प्रधान, किन्तु भाव की अभिव्यक्ति भी भारतीय काव्यो का लक्ष्य रहा है। अतः महाकाव्य का तीसरा वर्ग भाव-प्रधान भी हो सकता है। कामायनी इसी तीसरे वर्ग के अन्तर्गत आयेगी।

भारतीय प्राचीन रीतिशास्त्रों की दृष्टि से कामायनी पर जो सामान्य आक्षेप हो सकते है उनका समाधान स्वय लेखक के मानदण्ड तथा युग की विचारधारा से पूर्णतया हो जाता है। इसका यह तात्पर्य कदापि नही कि उसका विधान शास्त्र-दृष्टि से शून्य है। संस्कृत के रीतिग्रन्थो मे महाकाव्य के जो स्थूल चिह्न

---

* † The Epic (Abercrombie)

बतलाये गये हैं उनका यथासाध्य पालन कामायनी में है—जैसे ख्यात वृत्त, क्षत्रियकुलोद्भव धीरललित नायक, शृङ्गार-रस का प्राधान्य, अष्टाधिक सर्ग-संख्या, चन्द्रोदय, सूर्योदय, नदी, पर्वत आदि प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन। किन्तु इन स्थूल नियमों का पालन महाकवि करते ही आये हो ऐसी बात नहीं। तुलसी के 'रामचरितमानस' मे सात ही सर्ग है तो क्या यह महाकाव्य की श्रेणी से पृथक कर दिया गया। शास्त्र तो मार्ग का प्रदर्शन मात्र करता है, उसके नियम-प्रवाह को अवरुद्ध नहीं करता। इसी से विचारशील आचार्यों ने शास्त्र-नियम-निरूपण के पश्चात् यह स्पष्ट कह दिया है :—

> सन्धि-सन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
> न तु केवलया बुद्ध्या शास्त्रसम्पादनेच्छया॥
>
> —ध्वन्यालोक

शास्त्र-सम्पादन की ही इच्छा अनभीप्सित कही गई। रसाभिव्यक्ति प्रमुख मानी गई है। कामायनी के सम्बन्ध मे कौन कह सकता है कि इसमे रसाभिव्यक्ति की अपेक्षा नहीं उपेक्षा है। शास्त्र के स्थूल नियमों का अतिक्रमण क्या पूर्व क्या पश्चिम सर्वत्र होता रहा है। अरस्तू-द्वारा निर्दिष्ट नियमों का पालन होमर से लेकर मिल्टन तक किसी भी महाकवि ने नहीं किया। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो क्या भारतीय साहित्य में भी वाल्मीकि से लेकर श्रीहर्ष तक किसी ने महाकाव्य के स्थूल नियमों का पूर्णतया पालन किया? माघ के शिशुपालवध तथा 'श्रीहर्ष' के नैषधचरित मे कथानक महाकाव्य की दृष्टि से बहुत ही छोटा है। पहले कहा जा चुका है कि नियमों का अतिक्रमण मूल सिद्धान्तो की पराङ्मुखता नहीं। छन्दःपरिवृत्ति महाकाव्यो

में प्रवाह की भङ्गिमा सूचित करने के लिए होती है। नूतन भाव के साथ नूतन छन्द का सामञ्जस्य करने से रमणीयता बढ़ जाती है। पश्चिम मे भारत की भाँति सङ्गीत-तत्त्व का सूक्ष्म विधान नहीं है फिर भी वहाँ के कवि छन्दःपरिवृत्ति के बिना भी परिस्थिति-परिवर्तन की सूचना देते रहे हैं। यदि कोई इस नियम का पालन न करे तो इससे मूल सिद्धान्त का विरोध उपस्थित नहीं हो सकता, भले ही नियम या उपनियम का पालन न हो सके। मानस के रण-प्रसङ्गो मे कवि ने वीरभावोद्बोधक छन्दो का प्रयोग बराबर किया है किन्तु पद्मावत में वे ही प्रसङ्ग दोहे चौपाइयों मे रक्खे गये है। ऐसा करने मे उसका युद्ध-वर्णन अवश्य उतना नही खिल सका पर उससे वीरभाव का उद्रेक होता ही नहीं, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। ठीक इसी प्रकार यदि बात-बात मे छन्द बदलते जायँ तो इस अतिरेक से वैसा ही क्या उससे भी अधिक बाधा उपस्थित हो सकती है। केशव की रामचन्द्रिका मे छन्दो का हेर-फेर इतना अधिक हुआ है कि प्रवाह जमता नहीं, टूट-टूट जाता है। इसी से कहा जाता है कि शास्त्र, मार्ग-विलोकन की दृष्टि दे सकता है, मार्ग पर पद-विन्यास करना नहीं सिखला सकता। अनुकूल-पद्धति चुनने का कार्य, कर्ता का ही है, शास्त्र का नही।

प्रबन्ध-काव्य में नाना प्रकार की घटनाओं का समावेश अनेक प्रकार की अन्तर्वृत्तियो का अङ्कन करने के लिए होता है और उसका समन्वित लक्ष्य होता है 'मानव जीवन की यथासाध्य पूर्ण अभिव्यक्ति। यदि घटनाओं के आधिक्य के बिना ही कर्ता वैसा करने मे सफल हो जाय तो स्थूल नियमो का अतिक्रमण दूषण न होकर भूषण ही होगा। कामायनी मे यही हुआ है।

महाकाव्य की सच्ची कसौटी छन्द-विधान नहीं, सर्ग-संख्या नहीं, मंगलाचरण नहीं, खल-निन्दा या सज्जनशंसन नहीं, प्रकृति-वर्णन या वस्तु-परिगणन नहीं। ये सब तो उसके बाह्य अङ्ग हैं उसकी आत्मा है जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति जिसमे जीवन का चिरन्तन सङ्घर्ष, विषम परिस्थितियो का प्रदर्शन, मानव हृदय के नाना भावो का चित्रण तथा जीवन की किसी महान् समस्या का समाधान अङ्कित रहता है। भारतीय जीवन की पूर्णता भौतिकता मे नहीं वरन् आध्यात्मिकता मे है। कामायनी के अन्तिम तीन सर्ग (दर्शन, रहस्य तथा आनन्द) जीवन के आध्यात्मिक पक्ष का ही हमे दर्शन कराते हैं। यहाँ श्रद्धा और मनु भौतिक जीवन की सीमा पार कर आध्यात्मिक लोक में विचरण करते हुए दिखलाई पड़ते है। इस प्रकार 'कामायनी' महाकाव्य की अन्तरङ्ग कसौटी पर पूर्ण सफल उतरती है।

कथानक

किसी भी ख्यात वृत्तवाले काव्य के कथानक पर विचार करते समय सर्वप्रथम यह प्रश्न उठता है कि उसका मूलाधार क्या है ? कामायनी की कथा-सामग्री ऋग्वेद, पुराणो तथा शतपथ ब्राह्मण मे बिखरी पड़ी है। ऋग्वेद मे इड़ा का कई स्थलो पर उल्लेख है। श्रद्धा का तो एक पूरा सूक्त ही मिलता है। मनु वहाँ क्रान्तदर्शी ऋषि तथा राजा दोनो रूपो मे मिलते है। शतपथ मे इड़ा और मनु की कथा अक्रम तथा असम्बद्ध रूप मे मिलती है। जल-प्लावन की कथा, देव-सृष्टि-वर्णन एवं श्रद्धा-मनु की प्रणय-कथा न्यूनाधिक अन्तर से ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णु-पुराण, वायुपुराण, अग्निपुराण, मार्कण्डेयपुराण, मत्स्यपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, देवीभागवतपुराण, श्रीमद्भागवत तथा हरिवंश मे पाई जाती है। छान्दोग्योपनिषद् तथा त्रिपुरा-रहस्य मे श्रद्धा की भावमूलक व्याख्या मिलती है। कामायनी के अन्तिम तीन सर्गों की रचना शैवागम के प्रत्यभिज्ञान दर्शन के आधार पर हुई है। कामायनी के कथा-सविधान के लिए निश्चय ही कर्ता ने आर्य-वाड्मय के अनेक ग्रन्थो का आलोडन करके कथा-सिद्धि के लिए एक सूत्र निकाला और तत्सम्बन्धी प्रसङ्गो को भिन्न-भिन्न ग्रन्थो से लेकर कथा का ढाँचा खडा किया। विच्छिन्न शृङ्खलाओ को कल्पना से जोड़कर कथा को काव्यात्मक बनाया। इसके कथानक के प्रमुख मूलाधार ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण तथा

श्रीमद्भागवत ही है। प्रतिपादित सिद्धान्त का मूल स्रोत शैवागमो में मिलता है। ओघ या जलप्लावन की कथा केवल भारतीय पुराणों में ही नहीं, यहूदियो तथा असीरियों के पुराणो मे भी वर्णित है। अत: यह स्पष्ट है कि यह वही ऐतिहासिक घटना है जो धार्मिक भावना का खोल ओढ़कर दैवी कोप का प्रतीक बन गई है। स्वयं प्रसादजी ने जल-प्लावन को प्रमाणो द्वारा* ऐतिहासिक सिद्ध किया है। विदेशी विद्वान् भी इस बात को स्वीकार करते है। डाक्टर ट्रिंकलर† का अनुमान है कि बालू मे दबे हुए प्राचीन नगरो के ध्वसावशेषो से अवगत होता है कि हिमालय प्रान्त में कभी न कभी जल-प्रलय हुआ था। भूगर्भ-शास्त्र के विद्वानो ने तो भूगर्भ के विविध स्तरो के आधार पर यहाँ तक सिद्ध किया है कि यह बाढ़ ईसा के दस करोड़ वर्ष पूर्व आई थी।

अब देखना यह चाहिए कि काव्योपयोगी बनाने के लिए मूल कथा मे परिवर्तन कहाँ-कहाँ हुआ है। अर्थात् किन-किन नवीन अशो की उद्भावना की गई है। कौन-कौन से अनुपयोगी वृत्त छोड़ दिये गये है। श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणो में मत्स्य का उल्लेख अवतार रूप मे मिलता है। उनमे अप्राकृतिक तत्त्व वर्तमान है। कवि ने कथा मे ऐतिहासिकता लाने के लिए इस अप्राकृतिक तत्त्व को त्याग दिया है। मनु की नाव 'शतपथ' और 'भागवत' मे मत्स्य के शृगक में बँधकर हिमालय पर पहुँची किन्तु कामायनी मे मत्स्य के चपेटे से। 'भागवत' मे पाकयज्ञ

---

* कोषोत्सव स्मारक सग्रह मे आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट् नामक लेख—प्रसाद।

† १६ अक्टूबर सन् १६२८ का पायोनियर।

पुत्रोत्पत्ति के लिए किया गया है और 'शतपथ' में जल-प्रलय के अनन्तर देव-प्रवृत्ति के अनुसार। कवि ने यहाँ 'शतपथ' का ही अनुसरण किया है। कामायनी मे मनु सहज देव-प्रवृत्ति से ही यज्ञ करते है—

"सजग हुई फिर से सुर-सस्कृति, देव-यजन की वर माया।"

कथा मे सम्बन्ध-निर्वाह लाने के लिए ऐसा किया गया है। शतपथ मे यज्ञ के अवशिष्टान्न से इड़ा का पोषण होता है कामायनी मे यह अश मर्यादा के लिए छोड़ दिया गया है तभी तो इड़ा मनु को न पहचानकर पूछती है—

'कहो तुम कौन यहाँ पर रहे डोल'।

ऋग्वेद, शतपथ तथा पुराणो में श्रद्धा केवल मनु की पत्नी तथा कामगोत्रजा (कामपुत्री) के रूप मे आती हैं। कामायनी मे वह कामगोत्रजा तथा मनु की पत्नी रूप मे आती है। कवि ने उसके मातृ-घर की कल्पना गान्धार देश मे की है। उसके रूप, प्रकृति, कार्य आदि का वर्णन कवि की निजी सृष्टि है। काव्य इतिहास की अधिक से अधिक घटना तथा नाम ले सकता है पूरा लेखा नहीं। कवि की कल्पना अपने काव्योद्देश्य के अनुसार ऐतिहासिक तथ्य की रक्षा करती हुई नये नये प्रसङ्गो की उद्भावना कर लेती है। श्रद्धा-मनु का मिलन-दृश्य कवि की निजी कल्पना है। मिलन के लिए मनु को न तो दुष्यन्त की भाँति प्रणयानुरोध करना पड़ा है, न राम की भाँति धनुष तोड़ना पड़ा है, न पृथ्वीराज की भाँति चढ़ाई करनी पड़ी है और न रत्नसेन की भाँति देश-देश का चक्कर ही काटना पड़ा है। श्रद्धा मनु के अवसादपूर्ण जीवन को सेवा-भाव से अपनाकर उसके ऊपर अपना जीवन उत्सर्ग कर देती है। मनु भी उसकी सेवा माया-ममता समर्पण आदि से मुग्ध होकर अपने को उसे समर्पित कर देते है। श्रद्धा का स्वयंवरण

मातृसत्ता युग के अनुरूप ही है। भागवत तथा पुराणों मे मनु श्रद्धा से उत्पन्न दस पुत्र माने गये है—इक्ष्वाकु, नृग, पृषध्र, शर्याति, द्रिष्ट, धृष्ट, करुष, नरिष्यन्त, नभग और कवि। इसमे इनका एक ही पुत्र शर्याति या मानव है। इस संक्षेप का कारण अनावश्यक विस्तार से बचना ही है। काव्य तो इतिहास है नहीं कि वंशावली वनाने बैठे। कवि के ध्येय की पूर्ति केवल एक पुत्र मानव (शर्याति) से हो जाती है। पशु-यज्ञ मे 'किलाताकुलि' का पौरोहित्य शतपथ के अनुसार है। मनु के हृदय मे श्रद्धा का पुत्र-प्रेम देखकर ईर्ष्या का उत्पन्न होना कवि की निजी कल्पना का परिणाम है। यह घटना प्राचीन ऐतिहासिक तथ्य पर दृष्टि न डालनेवालो को खटक सकती है। परन्तु यथार्थवाद का आग्रह सृष्टि के आदिपुरुष मनु का यही स्वरूप निर्दिष्ट कर सकता है। ऋग्वेद में इड़ा प्रजापति मनु की पथप्रदर्शिका कही गई है। शतपथ मे भी यज्ञ मे इड़ा द्वारा मनु को अतुल सम्पत्ति मिली। इसी आधार पर कवि ने इड़ा और मनु द्वारा सारस्वत प्रदेश का शासन, प्रजा के धन-धान्य मे समृद्धि आदि दिखाई है। मनु का इड़ा की ओर आकर्षित होना शतपथ ४।७ के आधार पर है। यह वही घटना है जो पुराणो मे ब्रह्मा या प्रजापति के अपनी पुत्री सरस्वती की ओर आकृष्ट होने के रूप मे कथित है। इड़ा का सारस्वत प्रदेश उसी सरस्वती (इड़ा) का प्रदेश जान पड़ता है। देवताओ का मनु से युद्ध शतपथ ५।७ के (तद्वै-देवानामागआस) आधार पर है। आहत मनु का युद्धस्थल मे मुमूर्षु होना, स्वप्न से उद्विग्न श्रद्धा का वहाँ पहुँचना, मनु का ग्लानिवश भागना आदि (उत्तर भाग की सभी) घटनाएँ कवि की स्वतन्त्र उद्भावनाएँ है। प्रबन्ध विन्यास के लिए इतिहास जहाँ मौन है, वहाँ कवि की कल्पना सजग दिखाई पड़ती है। ऐसी उद्भावनाओ

और योजनाओं का विशेषाधिकार कवि को प्राप्त है। ऐतिहासिक विवरणों मे परिष्कार*, परिहार या अतिचार की आवश्यकता महाकाव्यो मे उन विवरणो या उनके परिणामो का लेखा-जोखा देने को नहीं होती। वह कोई काव्य-गत प्रयोजन की सिद्धि या कोई अद्भुत प्रतीक खड़ा करने के लिए होती है। मनु द्वारा ताण्डव नृत्य तथा शिव का दर्शन, कैलासवर्णन त्रिपुरा-रहस्य के शैललोक के आधार पर है। प्रसादजी की आनन्दवाद की पद्धति स्वीकार न करनेवालो के अनुसार तो ग्रन्थ की समाप्ति वहीं हो जानी चाहिए जहाँ श्रद्धा; इड़ा और मानव को मधुर (परिणय) सम्बन्ध मे बाँधकर मनु को खोजने निकल जाती है या जहाँ उन्हे वह खोज लेती है। उनकी दृष्टि में अन्तिम दो सर्ग व्यर्थ है। यदि आनन्दवाद की साम्प्रदायिक प्रवृत्ति काव्य के मेल मे किसी प्रकार न बैठती होती तो यह बातं किसी प्रकार मानी भी जा सकती थी किन्तु जब उस अंश द्वारा पूर्व-वर्णित बहिर्विकास के साथ सस्कृति के अन्तर्विकास का समन्वय कराया गया है तब उसे अनावश्यक कहना ठीक न होगा। अन्य महाकाव्यकारो की भाँति नायक को लौकिक विकास की चरम सीमा पर पहुँचा-कर कवि विरत नहीं होता प्रत्युत उसे भौतिक सीमा के पार

---

* And yet modification or suppression and exaggeration of the details of the history will certainly be necessary not to declare what happened or result of what happened, is the object of an Epic, but to accept all those as the mere material in which a single artistic purpose or a unique vital symbolism may be shaped

The Epic (Abercrombie)

आध्यात्मिक लोक में ले जाता है जहाँ हमारी काव्यगत, पात्रगत तथा जीवनगत सभी प्रकार की जिज्ञासाएँ शान्त हो जाती है।

घटनाओ का चुनाव करते समय कवि ने कुछ विशेष बातो पर ध्यान रक्खा है। कवि ने प्रायः उन्हीं घटनाओं को अपने कथानक के लिए ग्रहण किया है जिनके बारे में अधिक से अधिक मूलाधार ग्रन्थ एकमत हो जैसे जल-प्लावन की घटना; ऐसी घटनाएँ जिनकी सङ्गति बुद्धि तथा तर्क से ठीक बैठ जाती है जैसे मत्स्य के चपेटे से नाव का द्रुततर वेग से हिमालय की ओर जाना; ऐसी घटनाएँ जो उनके उद्देश्य के अनुसार आवश्यक थीं जैसे मनु का इड़ा की ओर आकर्षण, वे घटनाएँ जो मानव-जीवन की अविरूपता के साथ-साथ ऐतिहासिक सम्भाव्य की रक्षा करती है जैसे मनु का पाक-यज्ञ करना तथा यज्ञावशिष्ट अन्न देखकर श्रद्धा का मनु की ओर जाना; ऐसी घटनाएँ जिनसे भाव-व्यञ्जना मे उत्कर्ष, तीव्रता तथा मार्मिकता की वृद्धि हो जैसे किलाताकुलि का पौरोहित्य जो आरम्भ मे अनावश्यक-सा प्रतीत होता है किन्तु निर्वेद सर्ग मे इसका परिणाम मनु के मनोवेग को तीव्र करने के लिए आवश्यक सिद्ध हो गया है—

"और शत्रु सब ये कृतघ्न फिर इनका क्या विश्वास करूँ"

'ये' अर्थात् किलाताकुलि की उपस्थिति से मनु का निर्वेद बढ़ जाता है जब वे सोचते है कि जो मेरे काम-यज्ञ के पुरोहित बने थे वे ही आज शत्रु हो गये। पात्रो की मर्यादा का ध्यान करके घटनाओं का संविधान किया गया है इसी से मनु के यज्ञा-वशिष्ट अन्न से इड़ा के पालित होनेवाली कथा छोड़ दी गई है।

मूलाधार ग्रन्थो से कामायनी में घटनाओं का क्रम-परिवर्तन चार प्रयोजनो से हुआ है—सम्बन्ध-निर्वाह, धारा-प्रवाह की रक्षा, प्रसङ्गान्विति लाने का प्रयत्न तथा घटनाओं को अधिकाधिक

मानवीय बनाने की चेष्टा। घटनाओं के परिवर्तन से किस प्रकार सम्बन्ध-निर्वाह तथा धारा-प्रवाह की रक्षा एवं प्रसङ्गान्विति आती है यह पहले दिखाया जा चुका है, अतः यहाँ वृत्तो की स्वाभाविकता पर विचार करना चाहिए। इड़ा शतपथ की भाँति मनु के पूर्व निवास-स्थान पर न मिलकर सारस्वत प्रदेश में मिलती है। इस परिवर्तन से मनु के हृदय में इड़ा के प्रति आकर्षण और श्रद्धा से विकर्षण उसके (श्रद्धा) समक्ष ही नहीं होता। अतृप्त वासनावाले मनु जैसे विलासी का निर्जन प्रदेश में इड़ा जैसी 'नयनमहोत्सव की चन्द्रिका' की ओर खिंच जाना स्वाभाविक ही है।

ऐतिहासिक कथानक मे नवीन कथा की सृष्टि का विशेषाधिकार कवि को प्राप्त है किन्तु यहाँ उसकी कर्तृत्व शक्ति की कड़ी परीक्षा होती है। ऐतिहासिक कथानक से नूतन कथा की सङ्गति बैठाते समय तत्कालीन परिस्थिति से उसका पूर्ण सामञ्जस्य करना पड़ता है। यदि इसमें कवि तनिक भी चूका तो प्रबन्ध मे काल-दोष आ जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कामायनी इस दोष से मुक्त है। मनु द्वारा निक्षिप्त यज्ञबलि देखकर श्रद्धा का मनु की ओर जाना, स्वप्न देखना आदि घटनाएँ यथासम्भव शीघ्र महत्कार्य तक पहुँचाने के लिए कल्पित की गई है।

अब यह देखना चाहिए कि कामायनी की कथावस्तु काव्यगत कथानक के प्रयोजनो की पूर्ति कहाँ तक कर रही है। काव्य श्रव्य हो या दृश्य किन्तु दोनों में कथानक चार प्रकार का काम करता है—

१—पात्रों को साध्य तक पहुँचाता है।

२—भाव-व्यञ्जना में सहायता पहुँचाता है।

३—सत्-असत् का परिणाम दिखाता है।

४—चरित्रों की व्याख्या करता चलता है।

प्रथम लक्ष्य की पूर्ति कामायनी में पूर्णतया दिखलाई पड़ती है। दूसरे लक्ष्य की पूर्ति में तो मानो कवि की आत्मा ही रमी हुई है क्योंकि वृत्तों के बाह्य वर्णन में कवि का मन उतना नहीं लगता जितना घटनाओं के प्रभाव से उत्पन्न भाव-व्यञ्जना में। इसी से इस महाकाव्य में मर्मस्पर्शी भावाभिव्यक्ति के स्थल अत्यधिक मिलते हैं। प्रत्येक घटना इतनी भावुकता से वर्णन की गई है कि इसमें शुष्कता कहीं मिलती ही नहीं।

प्रबन्ध-काव्य में सत्-असत् का परिणाम सदाचार की रक्षा के लिए दिखाया जाता है। यदि सत् का असत् परिणाम हुआ तो इतिहासकार इतिहास को वास्तविक तथ्य की कसौटी पर खरा उतारने के लिए वही दिखायेगा, पर कवि को काव्य में सदाचार की रक्षा के लिए, पाठकों के हृदय में सत् के प्रति प्रेम तथा असत् के प्रति घृणा उत्पन्न करने के लिए ऐतिहासिक तथ्य की उपेक्षा करते हुए भी सत् का सत् तथा असत् का असत् परिणाम दिखाना पड़ता है; क्योंकि इतिहासकार का उद्देश्य अतीत घटना या समय-सम्बन्धी सत्य की रक्षा करना है किन्तु महाकवि का उद्देश्य मानव जीवन की रक्षा करना है। कामायनी में सर्वत्र सत् का सत् तथा असत् का असत् परिणाम दिखाया गया है। ये परिणाम स्वतः उद्भूत हैं बलात्कृत नहीं जैसे मनु का इड़ा पर बलात् अधिकार जमाने का प्रयत्न भयङ्कर विप्लव उत्पन्न करता है। चौथे लक्ष्य की पूर्त्ति के विषय में हम आगे चरित्र-चित्रण-वाले अध्याय में कहेंगे।

प्रसङ्गों की एकता तथा सम्बन्ध-निर्वाह दोनों तत्त्व अन्योन्याश्रित हैं। प्रबन्ध-काव्य में कथा की धारा चलती है। धारा-प्रवाह की रक्षा के लिए एक प्रसङ्ग से दूसरे प्रसङ्ग पर आना

पड़ता है और प्रसङ्ग की गति सदा प्रवाह की ओर उन्मुख करनी पड़ती है। प्रसादजी ने बिखरी हुई कथाओं को जोड़कर ऐसा सुन्दर प्रवाह कथानक में उत्पन्न किया है कि कथा की धारा का प्रवाह कहीं भी टूटता नहीं, समयानुसार कहीं मन्द कहीं तीव्र गति से साध्य की ओर चलता हुआ दिखाई पड़ता है।

कामायनी में घटनाओ के कार्य-विस्तार का अभाव बहुतों को खटकता है। इस काव्य मे पात्रो की संख्या ही कम थी; घटना या कार्य का विस्तार होता तो कैसे होता। दूसरे, कवि की दृष्टि कार्य-व्यापार पर उतनी नहीं थी जितनी आन्तरिक भावो की विवृति पर। घटनाओ का विस्तार वहीं होता है जहाँ कार्य-व्यापार की अधिकता होती है। माना कि वृत्त की विविधता, गूढता तथा विस्तार के द्वारा कथा-सौन्दर्य की वृद्धि होती है पर यदि उसके सङ्कोचन से काव्यत्व बाधित न होता हो तो वह सङ्कोच अनभीप्सित नहीं हो सकेगा। पूर्व मे ही नहीं पश्चिम मे भी यह वस्तु-सङ्कोच बहुत प्राचीन काल से मिलता है। शेक्सपियर के दुःखान्त नाटको के कथानक सुखान्त नाटकों की अपेक्षा बहुत छोटे तथा साधारण होते है पर इससे उनके काव्यत्व मे कोई बाधा नहीं पड़ी। उनके दुःखान्त नाटक ही सुखान्त नाटको से उत्कृष्ट माने जाते है।

कामायनी की वस्तुगत उन विशेषताओ पर दृष्टिपात करना चाहिए जो अन्य महाकाव्यो मे नहीं पाई जातीं। इसमे एक ओर तो पौराणिक कथाओं की आधुनिक वैज्ञानिक ढङ्ग से व्याख्या करके ऐतिहासिकता की रक्षा की गई है, दूसरी ओर मनोवैज्ञानिक रूपकत्व की रक्षा-द्वारा इसका सार्वभौमिक महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। पश्चिमी शिक्षा के चश्मे से पुराणो को कपोलकल्पित तथा वाग्जाल मात्र रूप में देखनेवालो को यह

बतलाया गया है कि उनके भीतर भारी ऐतिहासिक तथ्य निहित है। पुराणो मे पुराना इतिहास भरा है इसे यहाँवालो ने भी स्पष्ट कहा है।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्च लक्षणम्॥

वशानुचरित मे ऐतिहासिक तथ्य निहित है। प्रत्येक युग परम्परागत इतिहास को प्रदीप्त करके भविष्य की ओर ज्योति विकीर्ण करता है। उसके प्रकाश मे प्राचीन संस्कृति नया रङ्ग पकड़ती है। युग का कवि वर्तमान की आँख से अतीत की ओर देखता है और वर्तमान तथा अतीत की जन्य-जनक-सम्बन्धी कल्पना अतीत को बुला लाती है। प्रसादजी में यही बात थी। इसी लिए उनके नाटको तथा काव्यों में ऐतिहासिक कथानक रहने पर भी युग की महत्त्वपूर्ण समस्याओ—जैसे व्यक्तिवाद, समाजवाद, सामन्तवाद, बुद्धिवाद, अहिंसावाद, नारी-स्वातन्त्र्य आदि—पर प्रकाश मिलता है।

अब रही कथानक की रूपकात्मकता या अध्यवसान-आरोप-मयता। श्रद्धा तथा मनु की कथा इतनी प्राचीन है कि इसका वर्णन इतिहास तथा रूपक दोनो रूपो में हमारी अनुश्रुतियो में मिलता है। तथ्यसंग्रहकारी घटनाओ में अत्यधिक अतिरञ्जना तथा चरित्रो मे भावात्मकता के कारण रूपक का आरोप सुविधा से कर लेते है। इसी आधार पर कुछ आलोचक इसे रूपकात्मक-काव्य मानते है। इस भ्रम को स्पष्ट करने के लिए रूपकात्मक तथा यथार्थ (प्रकृत) महाकाव्य का अन्तर* स्पष्ट कर देना

---

* उपर्युक्त अन्तर ऐबरक्रौम्बी की 'दी इपिक' नामक पुस्तक के आधार पर दिया गया है।

आवश्यक है—यथार्थ महाकाव्य का कथानक ख्यातवृत्त होता है पर रूपकात्मक काव्य का कल्पित; पहले के पात्र सजीव और प्राय: ऐतिहासिक होते है दूसरे के पात्र निर्जीव और प्राय: अमूर्त भावो के प्रतीक होते है जैसे अँगरेजी-साहित्य मे फेअरी क्वीन; जिसमें पाप-पुण्य पात्र रूप मे आते है। पहले में कवि सजीव पात्रो द्वारा मानव-जीवन की वास्तविक समस्याओ पर विचार करता है, दूसरे मे कवि अमूर्त भावो द्वारा आध्यात्मिक जीवन का रहस्य सुलझाता है। पहले का मूल्य सामाजिक तथा आध्यात्मिक दोनो दृष्टियो से होता है दूसरे का केवल आध्यात्मिक मूल्य होता है। पहले मे कवि समाज का चित्र खींचता है दूसरे मे आध्यात्मिक तथ्य का निदर्शन। प्रकृत महाकाव्य में यदि रूपक आता भी है तो वह गौण रूप से कथा के मूल प्रवाह मे कहीं-कहीं व्यक्त होता है, सर्वत्र नहीं। किन्तु रूपकात्मक काव्य में प्रतीको का निर्वाह आदि से अन्त तक सर्वत्र होता है। रूपकत्व की प्रधानता के कारण इसमें कथा का स्वारस्य नष्ट हो जाता है किन्तु प्रकृत काव्य में वर्तमान रहता है। उपर्युक्त अन्तर पर ध्यान देने से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि कामायनी वस्तुत: यथार्थ महाकाव्य है।

कामायनी का ऐतिहासिक तत्त्व

साहित्य सत्य का प्रत्यभिज्ञान अनुभूति द्वारा कराता है। ये सत्य दार्शनिक दृष्टि से चिर पुरातन होने के कारण अपने नग्न रूप में आकर्षणशून्य प्रतीत होते है। इनमे आकर्षण, रमणीयता, मार्मिकता तथा चिर अभिनवता भरने का श्रेय काव्य-कथाभूमि को है—विशेषत: ऐतिहासिक काव्य-कथाभूमि को। क्योकि 'ऐतिहासिक वृत्त द्वारा उस सत्य की अभिव्यक्ति अधिक सजीव, स्वाभाविक तथा विश्वसनीय हो जाती है जिससे उसकी प्रभविष्णुता बढ़ जाती है, जो काव्य का अन्तिम साध्य है। साहित्यिक कल्पना को सत्यमूलक सजीवता से अनुप्राणित करने का श्रेय ख्यातवृत्त को ही है। ऐतिहासिक पात्रो से पाठको का आत्मीय सम्बन्ध संस्कारत: जुड़ा रहता है जिससे उनके हृदय मे रसस्राव सुगमता से होता रहता है। अत: रसाभिषिञ्चित हृदय मे सांकेतिक सत्य शीघ्रता से अंकुरित हो जाता है। इतिहास के आलोक मे प्रदीप्त काव्य-वर्णित जीवन अधिक स्वाभाविक, विश्वसनीय तथा बोधगम्य होता है। साहित्यगत चित्रित जीवन को ऐतिहासिक पात्र बार-बार समझाते है कि वह इसी लोक का है, वह इसी लोक के प्राणियों द्वारा प्राप्त हो सकता है। अर्थात् कल्पनामूलक साहित्यगत जीवन को लोक-सिद्ध करने का श्रेय ऐतिहासिक कथानक को ही है। इन्हीं उपर्युक्त सिद्धान्तो को ध्यान में रखकर हमारे शास्त्रकारो ने नाटक तथा महाकाव्य* में ऐतिहासिक कथा-भूमि के लिए विशेष आग्रह किया। विशेषत: महाकाव्य में

---

* इतिहासोद्भवं वृत्तम् (साहित्यदर्पण)

ऐतिहासिक कथानक का होना नाटक से भी अधिक आवश्यक है क्योंकि महाकाव्य मे जीवन का अखण्ड तथा नित्य स्वरूप दिखाया जाता है जो अतीत के आश्रय से ही पूर्ण रूप मे दिखाया जा सकता है, वर्तमान जीवन के कथानक से नही।

उक्त काव्यगत प्रयोजन पूर्ति के अतिरिक्त प्रसाद के ऐतिहासिक वृत्तो के प्रयोग में उनके कुछ निजी उद्देश्य भी हैं। यद्यपि मूलत: वे सभी उद्देश्य राष्ट्रीय चेतना एवं प्रेरणा से सम्पन्न हैं परन्तु उनकी दिशाएँ एक नहीं अनेक है—मनोवैज्ञानिक, सामाजिक या सांस्कृतिक, दार्शनिक तथा ऐतिहासिक। कामायनी के ऐतिहासिक तथ्य पर विचार करते समय यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रसादजी के उक्त उद्देश्यो की पूर्ति इसमे कहाँ तक हुई है।

प्रसादजी इतिहास के भौतिक या आर्थिक रूप को उतना महत्त्व नही देते जितना मनोवैज्ञानिक या आध्यात्मिक रूप को। उनकी दृष्टि में इतिहास का भौतिक या आर्थिक रूप क्षणिक होता है। वह सत्य होते हुए भी मिथ्या है क्योंकि उससे चिरन्तन सत्य का स्पष्टीकरण नहीं होता। इसीलिए वे ऐतिहासिक दृष्टि से घटना तिथि तथा पात्रो से सन्तुष्ट न होकर उनके भीतर छिपी हुई आत्मा की उस अनुभूति का अन्वेषण करते है जो युग-युग के ऐतिहासिक पुरुषो तथा पुरुषार्थों के रूप मे अभिव्यक्त होती रहती है जिसे दार्शनिक चिरन्तन सत्य तथा इतिहासकार ऐतिहासिक अनिवार्यता के नाम से पुकारते है। तात्पर्य यह कि उनके इतिहास की मूल प्रकृति मनोवैज्ञानिक है। इसीलिए वे वैदिक तथा पौराणिक वृत्तो की मनोवैज्ञानिक बुद्धिसङ्गत व्यवस्था करने

* कामायनी का आमुख पृष्ठ ४

में सफल हुए है और विश्वास तथा अन्धश्रद्धा के अन्धकार मे पड़े प्रागैतिहासिक नाम से अभिहित भारत के प्राचीनतम इतिहास को मनोवैज्ञानिक तर्क तथा समाज-शास्त्र के विकासशील सिद्धान्तो की कसौटी पर कसकर विज्ञान के आलोक मे प्रतिष्ठित कर सके है। इसी कारण कामायनी मे घटनाओ का विराट् रूप तथा चमत्कार दिखाने मे उनका मन इतना नहीं लगा जितना घटनाओ के भीतर छिपी मनोवैज्ञानिक वृत्तियो की विवृति पर या मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से मानसिक वृत्तियो का विकास खड़ा करने में।

प्रसादजी की ऐतिहासिक बोध-वृत्ति वैज्ञानिक है। वे ऐतिहासिक विज्ञान के आधार पर समाज को गतिशील करना चाहते है इसीलिए वे अपने काव्यो मे अतीत के उन्हीं अंशो का प्रयोग करते है जिनसे भविष्य के लिए उन्हे प्रेरणा मिलती है। ऐतिहासिक प्रगति का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि मनुष्य का विकास समाज की दिशा मे होता है और समाज का इतिहास की दिशा मे। इसी कारण वे ऐतिहासिक अनिवार्यताओ को अधिक महत्त्व देते है।

ऐतिहासिक अनिवार्यताओ पर विश्वास रखने के कारण ही वे प्राचीन संस्कृति का पुनर्निर्माण करना चाहते है। इसी कारण उनकी कल्पना अतीत के उन्हीं खण्डो में विशेष रमती है जिनमे भारतीय संस्कृति के मूल सिद्धान्तो का उद्भव हुआ था। उक्त सिद्धान्तो का मौलिक अन्वेषण उनके अतीत प्रयोग का एक प्रमुख उद्देश्य है। इसे उन्होने विशाख की भूमिका मे स्पष्ट कर दिया है। "इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श सङ्गठित करने के लिए लाभदायक होता है × × क्योकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी

अतीत सभ्यता है उससे बढ़कर और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमे मुझे पूर्ण सन्देह है।" प्रसादजी का विश्वास है कि किसी देश या जाति की संस्कृति उसकी सदियो की तपस्या का परिणाम है। इसका निर्माण उन क्षणो में होता है जब वह देश या जाति सभ्यता तथा शिक्षा के उच्चतम शिखर पर आसीन रहती है। अतः उस देश या जाति का कल्याण उसी संस्कृति को अपनाने में है। इसीलिए कामायनी मे कल्याणमय अमृत धाम आनन्दलोक की प्राप्ति भारतीय संस्कृति की प्रतीक श्रद्धा-द्वारा हुई है।

प्रसादजी अपने काव्यगत ऐतिहासिक अनुशीलन मे रूढ़ियो से जर्जर निर्मोको से ढकी भारतीय संस्कृति की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए उसका पुनर्निर्माण या जीर्णोद्धार करते है और साथ ही यह भी बताते चलते है कि किस प्रकार भारतीय संस्कृति को अपनाने से हिन्दू जाति गौरव-गरिमा को प्राप्त हुई, किस प्रकार उसके अभाव या दुरुपयोग से पतन को प्राप्त हुई तथा किस प्रकार फिर उसके आत्म-तत्त्व को अपनाकर अतीत गौरव-गुरुता को पहुँच सकती है। उदाहरणार्थ, भारतीय संस्कृति के अनुसार नारी को परा शक्ति के रूप मे प्रसादजी ने कामायनी में रक्खा है। नारी का यह रूप समाज से ज्यो ही लुप्त हो जाता है त्योंही उसका पतन होता है। मनु तथा देवयोनि के पतन का मूल कारण यही था और अन्त मे मनु का उद्धार तभी होता है जब वे नारी के इस रूप को पहचान लेते है।

प्रसादजी वर्तमान और अतीत मे जन्य-जनक सम्बन्ध मानते हैं अतः वर्तमान का भरण-पोषण अतीत द्वारा कराते है। उनका अतीत वर्तमान को प्यार करता है इसी कारण वर्तमान अपनी समस्याओ के समाधान के लिए अतीत के पास जाता है और

अतीत प्रेमपूर्वक उसकी समस्याओं का समाधान बताता है तभी तो वर्तमान अतीत का श्रद्धायुत सम्मान करता है। इनके अतीत और वर्तमान में कोई विरोध नहीं है। उनके यहाँ गत के ऊपर आगत की प्रतिष्ठा है और आगत के ऊपर आगामी की—

"असति सत् प्रतिष्ठितम् सति भूत प्रतिष्ठितम्।
भूतं हि भव्य आहितं भव्यं भूते प्रतिष्ठितम्॥"
अथर्ववेद १७-१-१९

अतः भविष्यत् से वियुक्त करके वे भूत को नहीं देखते। सामसन्त्र ब्राह्मण का कहना है कि भूत को भविष्य के साथ देखना चाहिए 'भूतं भविष्यता सह'। जैमिनी ब्राह्मण में भी भूत और भविष्य का एक साथ आह्वान किया गया है "भूतायत्वा भव्याय त्वा"। भूत और भविष्य के संगम से उद्भूत परम सत्य की आराधना करने से हमें अभय* मिलता है। इस पूर्णता के अंश को जो छोड़ेगा उसके ऊपर मृत्यु का बाण चलेगा। भारतवर्ष ने जिस दिन से भूत की उपासना में संलग्न होकर भव्य की उपेक्षा आरम्भ की उसी दिन से भव्य की ओर से मृत्यु-बाणवर्षा आरम्भ हुई। आज हम भूत का तिरस्कार कर भव्य की उपासना में अधिक तल्लीन है इसी लिए भूत की ओर से प्रलय की वर्षा हो रही है। वस्तुतः जीवन में पूर्णता तथा परिपक्वता लाने के लिए नवीन तथा पुरातन में द्वन्द्व अपेक्षित नहीं वरन् समरसता की आवश्यकता है। प्रसादजी की कामायनी में पुरातन की ऐसी दुहाई कहीं नहीं देते जहाँ वर्तमान का तिरस्कार हो। मनु की प्रथम निराशा-निरुपाय दशा में, किंकर्तव्य-विमूढ़ता में, स्वच्छन्द प्रेम में,

---

* भूतं भविष्यदभयं विश्वमस्तु मे
अश्वलायन गृह्य सूत्र २-४-१४

निरंकुश शासन में श्रद्धा के अहिंसा-विषयक उपदेश में, इड़ा (बुद्धिवाद) के आकर्षण तथा प्रलोभन में, सारस्वत प्रदेश की क्रान्ति तथा युद्ध आदि अनेक प्रसङ्गो में वर्तमान का मन्द-मन्द स्वर सुनाई पड़ता है।

भारतीय इतिहास की प्रवृत्ति सदा दर्शनोन्मुखी रही है। यहाँ के इतिहास म आत्मिक कार्यों, आत्मिक शक्तियो तथा नैतिक आदर्शों की जितनी चर्चा है उतनी भौतिक तत्त्वो की नहीं। इस अर्थ मे हमारे पुराण इतिहास ही हैं। परन्तु भौतिक तत्त्वो को विशेष महत्त्व देनेवाले पुराणो की शैली से अनभिज्ञ विदेशी या विदेशी दृष्टि के इतिहासकार पुराणो मे इतिहास नहीं मानते। परन्तु विदेशी या विदेशी दृष्टि के इतिहासकार जो भारतीय इतिहास की परम्परा एव प्रवृत्तियो तथा पुराणो के पञ्च लक्षण—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

से परिचित हैं वे पुराणो में इतिहास का अस्तित्व स्वीकार करते है उनमे पार्जिटर का नाम उल्लेखनीय है। उसने पुराणों का गम्भीर अध्ययन किया था। वह भारत की ऐतिहासिक प्रवृत्ति तथा भारतीय पुराणो की शैली से परिचित था। इसलिए वह पुराणो में इतिहास की* सत्ता स्पष्ट शब्दो में स्वीकार करता है।

---

* These old geneological accounts with incidental stories are not to be looked upon as legends or fables devoid of basis or substance but contain genuine Historical Tradition They give an opportunity of viewing ancient India from Kshatriya point or view.

—Pargiter.

उसका कहना है कि पुराणों मे क्षत्रिय राजाओं का चरित अङ्कित है जो उस काल मे पुराविदो, पौराणिको या पुराणजनो द्वारा गाया जाता था। पौराणिको की सन्तति पीढ़ी दर पीढ़ी उस वंश-चरित को याद कर लिया करती थी। भिन्न-भिन्न काल के भिन्न-भिन्न पौराणिको द्वारा गाये जाने के कारण इतिहास की एकरूपता नष्ट हो गई। इसी कारण मनु की कथा भिन्न-भिन्न पुराणों मे भिन्न-भिन्न रूप में मिलती है। मनु का नाम सबसे अधिक पुराणो मे मिलता है। इससे यह प्रतीत होता है कि वह अपने युग का सबसे बड़ा राजा था। पार्जिटर ने सभी पुराणो का गम्भीर अध्ययन करके यह बताया है कि इस बात मे सभी पुराण एकमत है कि आदि क्षत्रिय-वंश तीन हैं—सूर्यवश, चन्द्रवश तथा यदुवंश। इन सबकी उत्पत्ति के मूल स्रोत मनु है। पुराणों में मनु के दस पुत्र माने गये है—इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, द्रिष्ट, धृष्ट, करुष-नरिष्यन्त, पृषध्र, नभग और कवि। इक्ष्वाकु से सूर्यवंश की उत्पत्ति हुई जिसमें राम का अवतार हुआ था। वशिष्ठ के शापानुसार इला (इड़ा) के रमणी रूप मे परिणत होने पर उस पर बुध मुग्ध हो गया जिससे पुरूरवा की उत्पत्ति हुई। पुरूरवा के पुत्र ययाति से पॉच पुत्र हुए—यदु, तुर्वशु, द्रुह्यु, अनु तथा पुरु। यदु यदु वश तथा पुरु से चन्द्रवश की उत्पत्ति पुराणो मे मानी जाती है। इसी यदुवंश में सबसे प्रसिद्ध पुरुष कृष्ण तथा चन्द्रवंश में बुद्ध हुए। अर्थात् पुराणो के अनुसार भारतीय इतिहास के मूल पुरुष मनु है। प्रसाद भी पुराणो को प्रागैतिहासिक नही वरन् ऐतिहासिक मानते है और मनु को प्राप्त भारतीय इतिहास का प्रथम पुरुष। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि कामायनी की कथा ऐतिहासिक है।

कामायनी की ऐतिहासिक भूमि स्पष्ट करने के लिए काव्य तथा इतिहास दोनों की सीमाएँ समझ लेना आवश्यक है कि वे कहाँ-कहाँ एक दूसरे को स्पर्श करती हैं और कितनी दूर तक अलग रहती हैं। इतिहासकार बीती हुई घटनाओ को उसी रूप मे अङ्कित करता है जिस रूप में वे घटी रहती हैं। कवि अपने कौशल से उनका पुनर्निर्माण करता है इसलिए वह यही बताकर मौन नहीं हो जाता कि क्या हुआ प्रत्युत इससे आगे यह भी बताता है कि क्या होना सम्भव है। सम्भाव्य घटनाओं मे ऐतिहासिक वातावरण तथा मानव प्रकृति की अनुरूपता का ध्यान रखना आवश्यक है। कामायनी के मूलाधार ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण, ऋग्वेद तथा पुराणों मे श्रद्धा,-मनु तथा इड़ा की कथाएँ इतनी अक्रम, असम्बद्ध, उलझी हुई, घटना-परम्परा से हीन तथा विविध रूप मे मिलती है कि यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि वस्तुतः जलप्लावन के पश्चात् श्रद्धा-मनु के संयोग से मानव-सृष्टि-प्रणयन मे कौन-कौन घटनाएँ किस-किस रूप में घटी। पर हाँ, कामायनी की घटनाओ को देखकर इतना तो अवश्य बताया जा सकता है कि इसकी अमुक-अमुक घटनाएँ कवि-कल्पित है तथा अमुक-अमुक घटनाएँ किसी न किसी मूलाधार ग्रन्थ मे मिलती हैं। पहले ऐतिहासिक घटनाओ पर ही विचार कर लेना अच्छा होगा। कामायनी के पूर्व भाग की प्रायः सभी घटनाएँ ऐतिहासिक है। जलप्लावन की घटना से कामायनी का आरम्भ होता है। यह घटना हमारे पुराणो तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थो में ही नहीं, वरन् यहूदी, इसाई, इस्लामी आदि सभी विश्व के प्राचीन साहित्यो तथा धर्म-ग्रन्थो मे मिलती है। इससे और कोई तथ्य चाहे न निकले पर इतना तो मानना ही पड़ेगा कि जलप्लावन की घटना बहुत ही प्राचीन तथा सत्य है। कामायनी मे जलप्लावन

का वर्णन शतपथ के प्रथम काण्ड के आठवें अध्याय के आधार पर है। शतपथ में मनु की नाव मत्स्य के पङ्ख में बँधकर हिमवान् प्रदेश में पहुँचती है परन्तु कामायनी में मत्स्य के चपेटे से। यह परिवर्तन कवि ने ऐतिहासिकता की अधिकाधिक रक्षा के लिए किया है। ओघ कम हो जाने पर मनु जिस स्थान पर उतरे उसे मनोरवसर्पण* कहते है। यह स्थान अभी तक इसी नाम से प्रचलित है। देव-सृष्टि-वर्णन ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण आदि के आधार पर है। ओघ के अनन्तर मनु का अग्निहोत्र-प्रज्वलन† भी शतपथ के प्रथम काण्ड के पाँचवें अध्याय के आधार पर है। कामायनी मे प्रक्षिप्त मनु द्वारा यज्ञावशिष्ट अन्न को देखकर श्रद्धा उनके पास आ जाती है। शतपथ में इस प्रकार इड़ा मनु के पास पहुँचती है। सम्भवतः इसी आधार पर उक्त घटना की कल्पना कवि ने कर ली है। काव्य में भिन्न-भिन्न स्रोतो, भिन्न-भिन्न नायको या नायिकाओं से सम्बन्ध रखनेवाली कहानियाँ साध्य के अनुसार एक मे मिला ली जाती हैं। किन्तु इस बात पर ध्यान रक्खा जाता है कि उनके द्वारा ऐतिहासिक वातावरण पर कहीं आघात न पहुँचे। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस घटना से कामायनी की ऐतिहासिकता पर आघात नहीं पहुँचता। श्रद्धा का

---

* अमी परं वै त्वा, वृक्षे नावं प्रति बदंनीव, त तु त्वा मागिरौ सन्त मुखमन्तश्चैत्सीद् यावद् तावद् उदकं समवायात्-तावत् तावेदन्ववसर्पासि इति स ह तावत् तावदेवान्ववससर्प। तदप्येतदुत्तरस्य गिरेर्मनोरव-सर्पणमिति (८—१) शतपथ

† मनुर्हवा अग्रे यज्ञेनेजे, मदनुकृत्येमाः प्रजा यजन्ते (५—१) शतपथ

मातृगृह अहिंसा, उपदेश, मान, दिनचर्या, तकली, पशुपालन, ऊन की पट्टी बुनना आदि कवि-कल्पित हैं। सभी मूलाधार ग्रन्थ श्रद्धा की दिनचर्या, मान आदि के बारे मे मौन है। किलाताकुलि के पौरोहित्य* से पशुयज्ञ शतपथ के अनुसार ही है। श्रद्धा के पुत्र-प्रेम से ईर्ष्यालु होकर मनु का भाग जाना कविकल्पनाकृत है पर इसमे भी ऐतिहासिक तथ्य की रक्षा ही हुई है, हत्या नहीं।

इड़ा और मनु के मिलन की घटना, इड़ा के ऊपर मनु का स्वच्छन्द प्रेम स्थापित करने का प्रयत्न तथा इस पर देवताओं का मनु के ऊपर क्रोध, शतपथ के आधार पर है। सारस्वत† नगर में इड़ा का पथ-प्रदर्शन ऋग्वेद के आधार पर है। कामायनी के उत्तर भाग की सभी घटनाएँ—स्वप्न देखकर श्रद्धा का रणक्षेत्र मे मूर्छित मनु के पास पहुँचना, मनु का ग्लानिवश भाग जाना, मानव इड़ा का परिणय, पुन. मनु की खोज मे श्रद्धा का निकल जाना, मनु की पुनः प्राप्ति, श्रद्धा और मनु का कैलास पर जाकर रहना तथा अन्त में इड़ा एवं मानव का नगर-निवासियो सहित कैलास-आश्रम पर जाना कवि-कल्पित है पर वे सभी ऐतिहासिक वातावरण के अनुरूप तथा मानव प्रकृति के अनुकूल है, उनकी सृष्टि काव्य-साध्य तक पहुँचने के लिए, घटनाओं मे सम्बन्ध-निर्वाह तथा ऐक्य स्थापित करने के लिए हुई है। कल्पित घटनाओ मे ऐतिहासिक वातावरण की रक्षा तथा अक्रम एवं असम्बद्ध रूप मे

---

* किलाताकुली इति हासुर ब्रह्मा वासुतः। तौ होचतुः श्रद्धादेवो वै मनुः आवं नु वेदावेति। तौ हागत्योचतुः—मनों याजयाव त्वेति।
—शतपथ।

† इडामकृण्वन्मनुषस्य शासनीम् (१–३१–११) ऋग्वेद।

विकीर्ण घटनाओं मे क्रम तथा ऐक्य देखकर यह कहना पड़ता है कि प्रसादजी को सच्ची ऐतिहासिक कल्पना प्राप्त थी।

कवि जिस घटना को अपने काव्य के लिए चुनता है वह ऐतिहासिक दृष्टि से अधूरी होती है। इतिहास मे उसका आदि-अन्त कहीं अन्यत्र रहता है, वह तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं में आगे-पीछे से जुड़ी रहती है, परन्तु कवि उसे अपनी ऐतिहासिक कल्पना द्वारा आदिअन्तमय बना देता है। श्रद्धा-मनु का वृत्तान्त ऐतिहासिक दृष्टि से जलप्लावन की घटना के बहुत पूर्व से होता है। अतः जलप्लावन की घटना से श्रद्धा-मनु का वृत्त आरम्भ करना ऐतिहासिक दृष्टि से अधूरा है परन्तु कवि ने इस ढङ्ग से उसका प्रसङ्ग उठाया है कि काव्य-विषय की दृष्टि से वही आरम्भ समुचित प्रतीत होता है। काव्य का मुख्य विपय श्रद्धा और मनु के संयोग से अभिनव मानव सृष्टि का विकास दिखाना है। मानव सृष्टि का आरम्भ देव-सृष्टि के विध्वंस के पश्चात् हुआ और देव-सृष्टि का विध्वंस जलप्लावन मे हुआ।

श्रद्धा-मनु सम्बन्धी वृत्तान्त का अन्त उनकी मृत्यु के पश्चात् ही हुआ होगा परन्तु कवि ने अपने काव्य मे उसका अन्त पहले ही दिखाया है। कवि किसी नायक या नायिका की जीवनी या वंशावली तो लिखने बैठता नहीं कि उसका पूरा लेखा-जोखा तैयार करे। वह तो अपने उद्देश्य या साध्य के अनुसार समाप्ति चुन लेता है। जहाँ उसके साध्य की प्राप्ति हो जाती है वहीं वृत्तान्त समाप्त हो जाता है। कामायनी का साध्य विषय समरसता-जन्य आनन्दवाद है। कामायनी मे जहाँ सभी पात्र आनन्द की प्राप्ति करते है वहीं काव्य समाप्त हो जाता है। इतिहास 'यदि परन्तु' की बात नहीं करता। वह किसी घटना के केवल बाहरी कारणों की व्याख्या करता है परन्तु कवि अपनी कल्पना-द्वारा

भीतरी बाहरी दोनो कारणो की ठीक व्यवस्था करता है। श्रद्धा की स्मिति मात्र से इच्छा, ज्ञान और क्रिया तीनो बिन्दु एक मे मिल जाते है क्योकि वह परा शक्ति का अवतार है। भीतरी दृष्टि से, जब इच्छा, ज्ञान और क्रिया मे हृदय-तत्त्व समाहित रहेगा तभी तीनो मिल सकते है अन्यथा नहीं।

इतिहास मे व्यक्ति की अभिव्यक्ति होती है परन्तु काव्य मे व्यक्ति द्वारा जाति की। इसलिए कवि अपने उद्देश्य के अनुसार इतिहास मे काँट-छाँट, सङ्कोच-विस्तार, परिवर्तन-परिवर्धन कर ही लेता है। काव्य कभी इतिहास का अनुकरण नहीं करता। केवल उसका आधार लेकर अपने उद्देश्य के अनुसार उससे सुन्दर या असुन्दर रूप उपस्थित करता है। पुराणो की श्रद्धा या शतरूपा केवल मनु की पत्नी के रूप में पाठको के समक्ष आती है। पुराणो मे भी उसकी व्यक्तिगत सत्ता का पूर्ण विकास नहीं हुआ है। कामायनी की श्रद्धा, अपने चरित्र, स्वभाव, गुणो तथा कार्यों द्वारा पूर्ण नारीत्व को अभिव्यक्त करती है। श्रद्धा में नारीत्व का विकास दिखाने के लिए कहीं तो कवि को अनेक घटनाओ की कल्पना करनी पड़ी, कहीं ऐतिहासिक घटनाओ का क्रम उलटना पड़ा कहीं घटनाओं का सङ्कोच तो कहीं विस्तार करना पड़ा है। श्रद्धा का वह समर्पण कवि की निजी कल्पना का परिणाम है जिसमें नारी के सभी गुण—सेवा, दया, माया, ममता, त्याग, करुणा आदि—दिखाये गये है। श्रद्धा के समान भव्य नारी-चरित्र कदाचित् ही वर्तमान हिन्दी-साहित्य में कोई मिले। इस भव्य नारीत्व के चित्रण का श्रेय इतिहास को नही प्रत्युत प्रसादजी की ऐतिहासिक कल्पना को ही है। स्वप्न देखकर श्रद्धा का मूर्छित मनु के पास जाना, मनु के दुबारा भाग जाने पर भी श्रद्धा का उन्हे पुनः खोज लेना, समाज-सेवा के लिए इकलौते पुत्र को इड़ा के पास छोड़ जाना आदि ऐसी ऐसी

घटनाएँ कवि-कल्पित मिलती हैं जिनसे श्रद्धा मे नारीत्व का उच्चतम विकास दिखाया गया है।

कवि के सत्य तथा इतिहासकार के सत्य में महान् अन्तर होता है। काव्य मे लोक-मङ्गल की व्यवस्था के लिए कवि सदा सत् की विजय तथा असत् की हार दिखाता है, किन्तु इतिहासकार इसके लिए बाध्य नहीं। वह तो अपने धर्म की रक्षा तभी कर सकता है जब वह किसी घटना को उसी रूप मे अंकित करे जिस रूप मे वह वस्तुतः घटी है। श्रद्धा के सत् चरित्र का परिणाम सत् रूप मे जितनी विशदता से कामायनी मे वर्णित है उस प्रकार, पुराण, शतपथ या ऋग्वेद, कहीं नहीं है। मनु के असत् चरित्र का पराभव जितनी मात्रा मे कामायनी मे दिखाया गया है उतनी मात्रा मे किसी भी मूलाधार ग्रन्थ मे नहीं है। मनु को अपने असत् चरित्र के फलस्वरूप शतपथ मे केवल देवताओ का ही कोपभाजन बनना पड़ा, परन्तु कामायनी मे सारा समाज उनका शत्रु हो उन्हे युद्धक्षेत्र में मुमूर्षु कर देता है अर्थात् ऐतिहासिक सत्य, यथार्थता की बावन तोले पाव रत्ती नापकर रक्षा करता है परन्तु ऐतिहासिक काव्य का सत्य अधिक से अधिक ऐतिहासिक सम्भाव्य की रक्षा कर सकता है।

परन्तु अनैतिहासिक काव्य ऐतिहासिक कथानक का आधार लेकर भी सम्भाव्य घटनाओ में ऐतिहासिक वातावरण की रक्षा का ध्यान छोड़ देता है। कामायनी मे ऐतिहासिक वातावरण की ऐसी उपेक्षा कहीं नहीं है जो काव्य मे अनैतिहासिकता ला दे।

काव्य की मूलाधार घटना को ऐतिहासिक बनाए रखने से या सम्भाव्य घटनाओ मे ऐतिहासिक वातावरण की रक्षा करने से ही ऐतिहासिकता नहीं आती वरन् उसके लिए पात्रो का ऐतिहासिक व्यक्तित्व भी सुरक्षित करना पड़ता है। पुराणो, वैदो तथा अनु-

श्रुतियों मे मनु को दो व्यक्तित्व घेरे हुए है— एक तो धर्म-प्रणेता, स्मृतिकार मनु का व्यक्तित्व तथा दूसरे मन्वन्तर के प्रवर्तक मनु का व्यक्तित्व।' कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसादजी ने कामायनी मे दोनो व्यक्तित्वो की रक्षा करने का प्रयत्न किया है। कामायनी के पूर्व भाग मे, सृष्टि के ध्वंस के पश्चात् मनुदेव देवो से विलक्षण मानव-सृष्टि के प्रवर्तक के रूप मे दिखाये गये है। अत. यहाँ तक वे मन्वन्तर के प्रवर्तक हुए। सारस्वत प्रदेश मे कवि ने उन्हे नियम-नियामक के रूप मे रक्खा है, इस प्रकार यहाँ स्मृति-कार मनु का व्यक्तित्व दिखाई पड़ता है। मनु स्वय कहते हैं—

"तुम्हे तृप्तिकर सुख के साधन सकल बनाए।
मैने ही श्रम भाग किये फिर वर्ग बनाये॥"

कामायनी के मूलाधार ऐतिहासिक ग्रन्थों में आये हुए श्रद्धा के प्रसङ्गो को देखने से प्रभाव रूप मे अन्तर्जगत् की वृत्तियो को महत्त्व देनेवाली विश्वासमयी नारी का चित्र समक्ष आता है। श्रद्धा का यही व्यक्तित्व अत्यन्त विशद रूप मे कामायनी में मिलता है। क्षमा, त्याग, सेवा, करुणा आदि नारी-हृदय की सभी वृत्तियो की मूर्ति श्रद्धा है। विश्वास तो वह इतना करती है कि उसी कारण पति से कई बार प्रवञ्चित होती है किन्तु फिर भी पति का विश्वास नहीं छोड़ती।

मूलाधार ग्रन्थो में इड़ा स्वतन्त्र प्रकृतिवाली बुद्धि-प्रधान पथ-प्रदर्शिका नारी का चित्र सामने लाती है। कामायनी मे भी उसके व्यक्तित्व का यही प्रमुख प्रभाव दिखाई पड़ता है। पथ-प्रदर्शिका के रूप में वह मनु का पथ आलोकित करती रहती है—

"इड़ा अग्निज्वाला-सी आगे जलती है उल्लास-भरी।
मनु का पथ आलोकित करती विपद-नदी मे बनी तरी॥"

श्रद्धा, मनु तथा इड़ा-सम्बन्धी मूल प्रसङ्गों में ऐतिहासिकता के साथ रूपकत्व का भी आभास मिलता है। उन प्रसङ्गों में ऐतिहासिक आख्यानों के समान सीधी व्यञ्जना ही नहीं प्रत्युत भावात्मक सङ्केत भी मिलता है। 'प्रथमयायेजे मनु' से प्रथम यज्ञ करनेवाले व्यक्ति के साथ-साथ मन का भी अर्थ लिया जा सकता है।

श्रद्धया अग्नि. समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
× × × ऋ० १०-१५१

अर्थात् श्रद्धा से अग्नि प्रज्वलित होती है तथा श्रद्धा से आहुति दी जाती है। यहाँ श्रद्धा का साङ्केतिक अर्थ ग्राह्य है।

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः।
× × × ऋ० १०-१५१-२

हे श्रद्धा! दान देनेवाले तथा लेनेवाले दोनो के लिए प्रिय बनो। यहाँ श्रद्धा एक ऐतिहासिक व्यक्ति-सी प्रतीत होती है। शतपथ तथा पुराणों में इड़ा मनु की दुहिता के रूप मे आती है। ऋग्वेद मे इड़ा के ऐतिहासिक तथा साङ्केतिक दोनो रूप मिलते हैं।

'अस्य प्रजावती गृहे असश्चन्ती दिवे दिवे इडा धेनुमती दुहे।'
ऋ० ८-११-४

इड़ा प्रजा से युक्त होकर दिनोदिन गृह में स्थिर रहनेवाली पत्नी या गौ-सदृश सुख प्रदान करे।

उक्त मन्त्र में इड़ा का अभिप्राय व्यक्ति तथा बुद्धि दोनो से लगाया जा सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कामायनी में भी पात्रो का विविध रूप सुरक्षित है और इसे कवि ने अपने आमुख मे भी स्पष्ट कर दिया है—"मनु श्रद्धा और इड़ा

अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, साङ्केतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करे तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।" मनु अर्थात् मन के दोनो पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है। इसी लिए काव्य में पात्रो के चरित्र-चित्रण के साथ साथ भावनाओ का सम्बन्ध बीच-बीच मे लगा हुआ-सा दीखता है और कवि वहाँ कुछ रुककर उस मनोवृत्ति का विश्लेषण भी करने लग जाता है। घटनायें भी कहीं-कहीं इस प्रकार अतिरञ्जित हो गई है कि उनमें रूपक का आरोप सुविधा से हो जाता है। ये साङ्केतिक अर्थ महाकाव्य में ऐतिहासिक यथार्थता से सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हैं, घटनाओ की ध्वनि मात्र है। वे ऐतिहासिक तथ्य पर निर्भर है। एक प्रकार से वे घटनाओ तथा पात्रो के स्थूल रूप मे सूक्ष्म तत्त्व भरते है अतः इनके कारण ऐतिहासिक तथ्य पर आघात नहीं पहुँचता, प्रत्युत उसका महत्त्व बढ़ जाता है।

किसी भी काव्य मे ऐतिहासिक तथ्य की रक्षा, घटना तथा पात्रो से उतनी नही होती जितनी ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि से होती है। ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि के लिए उस काल की धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियो का चित्रण करना पड़ता है, तत्कालीन सस्कृति तथा सभ्यता का रूप दिखाना होता है, उस काल की शिक्षा, सभ्यता तथा आवागमन के साधन की ओर भी सङ्केत करना पड़ता है। अब देखना यह है कि कामायनी मे ऐतिहासिक वातावरण की रक्षा किस रूप मे और किस प्रकार हुई है। कामायनी में मानव-सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था से उसके विकास तक का समय दिखाया गया है। समाजशास्त्र की विकासशील पद्धति के अनुसार सृष्टि के सम्पूर्ण इतिहास को हम दो युगो मे बाँट सकते

है—मातृ-सत्तायुग तथा पितृ-सत्तायुग। आधुनिक समाज-शास्त्रियों का कहना है कि सृष्टि के आदि मे मातृ-सत्तायुग था। उस युग में जनसत्तात्मक स्थिति थी। समाज की अध्यक्षा स्त्रियाँ हुआ करती थीं, समाज में स्त्रियो का सम्मान होता था, स्त्री को पति-वरण करने की पर्याप्त स्वतन्त्रता थी, किन्तु स्वतन्त्रता का अर्थ स्वेच्छाचारिता नहीं था। उस युग मे वर्ग या वर्ण-भेद की सृष्टि नहीं हुई थी। सभ्यता कुछ जङ्गली थी। पशुपालन या कृषि-कार्य होता था। हड्डी या पत्थर के कुछ साधारण हथियारो से लोग काम लेते थे। लोग फूस के मकानों में रहते थे। श्रद्धा तथा इड़ा दोनों नारियो द्वारा कवि मातृसत्ता-युग की झलक कामायनी मे दिखाता है। मनु के सारस्वत नगर पहुँचने के पूर्व वहाँ की शासिका इड़ा ही है। वहाँ पहुँचने पर भी उनका पथ-प्रदर्शन इड़ा ही करती है—

"मनु का पथ आलोकित करती विपद्-नदी मे बनी तरी"।

सारस्वत नगर का नाम भी (सरस्वती) या इड़ा के ही नाम पर प्रतीत होता है। सारस्वत प्रदेश मे स्त्री का इतना सम्मान है कि उसके ऊपर किए गए अत्याचार से सारी प्रजा विद्रोह कर बैठती है। इड़ा के शासन-काल में वर्गों या वर्णों की सृष्टि नहीं हुई है। सारस्वत नगर मे इड़ा की शासन-व्यवस्था से जन-सत्तात्मक शासन-प्रणाली की झलक दिखाई पड़ती है। उस युग मे व्यक्ति-भावना का उदय नहीं हुआ था। सारस्वत प्रदेश की प्रजा मे इतनी अधिक सामाजिक भावना थी कि समाज में अव्यवस्था उत्पन्न होने पर सारी प्रजा एक साथ स्वयमेव क्रान्ति के लिए इकट्ठी हो जाती है। इड़ा या श्रद्धा किसी मे भी समष्टि-भावना का तिरस्कार नहीं है। उस युग मे रहन-सहन का ढङ्ग बहुत सादा था। मनु के जाने के पूर्व सारस्वत नगर में

अट्टालिकाओ या उद्यानो का वर्णन नही है। उधर श्रद्धा का घर भी पुआलो की छाजन से बना है जिसमे वेतसी लता का झूला पड़ा है। श्रद्धा का स्वयवरण भी उस युग के वातावरण के अनुकूल ही है।

मातृसत्ता के पश्चात् सृष्टि पर पितृसत्तायुग आता है। पितृ-सत्ता स्थापित होने पर जनतन्त्र को बड़ा धक्का पहुँचा। पुरुष की प्रधानता ने वैयक्तिक भावना को जन्म दिया। वैयक्तिक भावना का चरम विकास सामन्तवाद या राजसत्ता के रूप मे हुआ। इसी प्रकार पितृसत्ता-युग मे लोक-तन्त्र या जनतन्त्र की धारा सामन्तवाद या राजतन्त्र के रूप मे बही। वर्गो तथा वर्णो की सृष्टि हुई। वर्गभेद ने ही समाज मे ऊँच-नीच, धनी निर्धन, छोटे-बड़े को उत्पन्न किया तथा सबके कर्तव्य अलग-अलग निर्धारित किये गये—वर्ग-सृष्टि के पश्चात् पहले की अपेक्षा लोगो को समय अधिक मिला इसलिए कला की उन्नति हुई। नये-नये यन्त्रो तथा मशीनो का आविष्कार हुआ, पत्थर तथा हड्डी के स्थान पर लोहे के प्रखर तथा अच्छे अस्त्र-शस्त्र बने। उस वर्ग के लोग सुन्दर-सुन्दर आभूषण को बनाना जान गये। कृषि, व्यापार आदि सभी व्यवसायो मे पर्याप्त उन्नति हुई। पितृसत्ता-युग मे सभ्यता का विकास हुआ। पुरुष की स्वच्छन्द तथा स्वार्थी प्रकृति ने नारी को विलासिता की सामग्री समझा। फल-स्वरूप समाज मे बहुपत्निता की प्रथा चल पड़ी। इस युग में धर्म का कर्मकाण्डी स्वरूप दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया। पितृसत्ता-युग की उक्त सभी विशेषताओ का प्रदर्शन कामायनी मे मनु द्वारा हुआ है। मनु मे वैयक्तिक भावनाएँ पहले से ही वर्त्तमान है। उनमें स्वार्थ-लिप्सा तथा अधिकार-चाह पहले से ही है। पितृ-सत्ता के प्रतीक रूप मे उनमें बहुपत्निता का रूप वर्त्तमान है। वे

नारी को केवल विलास की सामग्री समझते हैं, मातृसत्ता-युग मे प्राप्त उसके सभी अधिकारो को छीनने का प्रयत्न करते है। सारस्वत नगर में मनु के प्रधान मन्त्री बनते ही उनकी वैयक्तिक भावना के कारण जनतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली को धक्का लगता है। मनु वर्गों तथा वर्णों की सृष्टि करते है। वर्ग-भेद के पश्चात् ही छोटे-बड़े, धनी-निर्धन का जन्म होता है। राज्यसत्ता उत्पन्न हो जाती है। मनु राजा-प्रजा का कर्म निर्धारित करते है। वर्गभेद होते ही प्रत्येक वर्ग अपने-अपने श्रम मे उन्नति करता है। पुरोहित-वर्ग धर्म में कर्मकाण्ड का स्वरूप बढ़ा देता है। वैश्यवर्ग व्यापार तथा कृषि मे उन्नति करता है। कलाविद्वर्ग कला में उन्नति कर सारस्वत नगर में ऐसे-ऐसे यन्त्रो, अस्त्रो और आभूपणो का आविष्कार करता है जिनका कभी नाम भी नहीं सुना गया था। मनु अपनी वैयक्तिक भावना के चरम विकास की अवस्था मे निरंकुश सामन्त का रूप धारण कर लेते है। इस प्रकार पितृसत्ता-युग का वातावरण भी कामायनी में सुरक्षित है। ऐतिहासिक तथ्य की सूक्ष्मता दिखाने के लिए प्रसादजी ने उस युग के प्रधान पेय (सोम-रस पान) एवं ऊन की काली पट्टी आदि का भी प्रयोग किया है।

प्रसादजी के ऐतिहासिक प्रयोगों का मूल्य केवल काव्यात्मक ही नही, वरन् ऐतिहासिक भी है। उनकी ऐतिहासिक कल्पना केवल काव्य का ही सौन्दर्य नहीं बढ़ाती, प्रत्युत अतीत का विधान बड़े ही रम्य-ढङ्ग से करती हुई उसकी परिधि भी बढ़ाती है। प्रसादजी को यह लाञ्छन सह्य नहीं कि प्राचीन भारत का इतिहास नहीं मिलता या वेद तथा पुराण अनैतिहासिक या प्रागैतिहासिक है। इसी लिए नाटको मे उन्होने महाभारत-काल से लेकर हर्षकालीन ऐतिहासिक सामग्री की खोज की तथा उन कालो का ऐतिहासिक अनुक्रम भी अपनी अपूर्व खोजो से मिलाया है।

कामायनी मे वैदिक, पौराणिक तथा उपनिषद् काल के आख्यानो को शृङ्खला-बद्ध कर ऐतिहासिक सिद्ध किया। प्रसादजी ने अपने 'आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट् इन्द्र' नामक ऐतिहासिक प्रबन्ध में ऐतिहासिक प्रमाणो से सिद्ध किया है कि आर्यावर्त का प्रथम सम्राट् इन्द्र देवयोनि का था। देवयोनि के ध्वस के पश्चात् मनु से मानवी सृष्टि का आरम्भ हुआ जिसका वर्णन कामायनी मे है। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रसादजी ने भारतीय इतिहास की सीमा ही नही बढ़ाई प्रत्युत अक्रम तथा असम्बद्ध रूप मे विकीर्ण भारतीय इतिहास की सामग्री को एक क्रम भी दिया। श्रद्धा, मनु तथा इड़ा-सम्बन्धी कथाएँ ऋग्वेद, पुराणो, उपनिषदो तथा ब्राह्मणो में बिखरी थीं, उनमे कोई क्रम नहीं था। एक पुराण की कथा दूसरे से भिन्न थी। छान्दोग्य उपनिषद् मे श्रद्धा* या मनु† का भावात्मक रूप मिलता था तो शतपथ में इतिवृत्तात्मक। ऋग्वेद मे मनु कहीं राजा‡ के रूप में मिलते हैं तो कहीं क्रान्तदर्शी ऋषि§ के रूप मे। इस अक्रम तथा असम्बद्ध सामग्री को देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि कामायनी की कथा-सिद्धि के लिए प्रसादजी के समक्ष कितनी कठिनाइयाँ थीं। उन्होने उपलब्ध सभी सामग्रियो का गम्भीर अध्ययन किया, अप्रकाशित तथा अन्धकार के गर्त मे पड़े अशो को प्रकाशित किया उन उलझन भरे स्थलो को सुलझाया जिनके विषय में ऋषि, पौराणिक या इतिहासकार एकमत नहीं थे तथा उन्हे बुद्धि तथा तर्क के बल से एक निश्चित रूप दिया।

---

* आस्तिक बुद्धि इति श्रद्धा। छान्दोग्योपनिषद्

† मन्यते अनेन इति मनु.। छन्दोग्योपनिषद्

‡ मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह। ऋग्वेद

§ मनुर्वैवस्वतो ऋषिः। ऋग्वेद

प्रसादजी के ऐतिहासिक नाटकों तथा काव्यों से उनकी कुछ निजी ऐतिहासिक मान्यताएँ भी प्रकट होती है। जैसे, आर्यों के मूल निवास-स्थान के विषय मे ऐतिहासिकों की भिन्न-भिन्न सम्मतियाँ हैं। कोई उनका मूल निवासस्थान उत्तरी ध्रुव मानता है तो कोई आस्ट्रिया-हंगरी; कोई मध्यएशिया मानता है तो कोई जर्मनी; किन्तु प्रसादजी आर्यों का मूल निवासस्थान भारतवर्ष* ही मानते है। इन्द्र को कुछ विद्वान् देवता मानते थे, कुछ राजा तथा निरुक्त पद्धति के अनुयायी मेघ का प्रतीक। प्रसादजी ने अपने ऐतिहासिक अनुसन्धानों से सिद्ध किया कि इन्द्र, आर्यावर्त के प्रथम सम्राट् थे। देवयोनि को कुछ लोग देवता (मनुष्य से भिन्न प्राणी) मानते थे तो कुछ लोग आकाशी वस्तु। प्रसादजी उनको एक प्रकार का मनुष्य ही मानते है। कवि होते हुए भी प्रसादजी की ऐतिहासिक मान्यताएँ या अनुसन्धान इतिहासकारो से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

कामायनी की ऐतिहासिक भित्ति दार्शनिक भूमि पर खड़ी है। प्रसादजी इतिहास को दर्शन का बहिर्विकास मानते है। उनकी दृष्टि में दार्शनिक अमूर्त भावनाएँ ही ऐतिहासिक घटना के रूप में व्यक्त होती है। उनके लिए कोरी भौतिक घटनाओ से भरा इतिहास विशेष महत्त्व नहीं रखता। वे घटनाओं के भीतर केवल भौतिक कारणो की खोज से सन्तुष्ट न होकर आध्यात्मिक कारणो का भी अन्वेषण करते है। इसी लिए वे कामायनी में इतिहास का विकास दार्शनिक भूमि पर तथा दर्शन का विकास ऐतिहासिक भूमि पर दिखाने में सफल हुए है।

——

* हमारी जन्मभूमि थी यही, कही से हम आये थे नहीं।

कामायनी में प्रकृति-वर्णन

कामायनी की कथा अधिकांश प्रकृति-क्षेत्र मे घटित हुई, उसके पात्रो का अधिकांश जीवन प्रकृति की गोद मे विकसित हुआ, अतः प्रकृति-वर्णन के लिए कामायनी मे पर्याप्त अवसर था।

काव्य मे प्रकृति दो रूपो में आया करती है—१—प्रस्तुत अथवा वास्तविक रूप मे। २—अप्रस्तुत या आरोपित रूप मे।

प्रस्तुत रूप मे प्रकृति का विधान वहाँ होता है जहाँ वह स्वतः आलम्बन के रूप मे आती है अर्थात् जहाँ वह स्वय वर्ण्य रहती है। प्रस्तुत रूप में भी प्रकृति दो प्रकार से वर्णित होती है। एक तो ऐसे वर्णन जिनमे किसी स्थान या समय की आवश्यक या दृष्टिपथ मे सामान्यतया आनेवाली सामग्री का पृथक्-पृथक् उल्लेख मात्र रहता है। दूसरा वह जिसमे पृथक्-पृथक् उल्लेख नहीं रहता वरन् एक परिस्थिति या दृश्य का पूर्ण चित्र सामने लाया जाता है। प्रथम प्रकार के वर्णन मे केवल अर्थ-ग्रहण मात्र होता है, दूसरे मे वस्तुओं की संश्लिष्ट योजना-द्वारा बिम्ब ग्रहण कराया जाता है। पहले को स्फुट और दूसरे को सम्मिश्र वर्णन कह सकते हैं। इन योजनाओ के तीन रूप देखे जाते हैं :—१—शुद्ध रूप, २—भावाक्षिप्त रूप, ३—अलकृत रूप।

शुद्ध रूप मे वे वर्णन माने जायँगे जिनमें कवि केवल प्रकृति का रूप प्रस्तुत करता है, वह ज्यो की त्यो सामने आती है, उसमे किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता, क्योकि वहाँ न तो

कवि या पात्रों के भावों का आक्षेप होता है और न तो अलङ्कार से लादने का प्रयत्न। कामायनी मे इस प्रकार का शुद्ध प्रकृति-वर्णन कहीं-कहीं पर बहुत संक्षिप्त मिलता है। जैसे आशा सर्ग मे शरत्कालीन वन्य प्रकृति का यह वर्णन—

"स्वर्णशालियो की कलमें थीं
दूर-दूर तक फैल रही।
× × × ×
अचल हिमालय का शोभनतम,
लता-कलित शुचि सानु शरीर।"

इन वर्णनो में कवि कभी-कभी रहस्यवादी बाना धारण कर लेता है। प्रकृति की शोभा मे किसी अज्ञात सत्ता का सङ्केत देखता है। हिमालय का वर्णन करते-करते कवि उसकी उपः-कालीन शोभा में किसी अज्ञात की मृदु मुस्कान का सङ्केत देखने लगता है—

"उस असीम नीले अञ्चल में,
देख किसी की मृदु मुस्कान।
मानों हँसी हिमालय की है,
फूट चली करती कल गान॥"

किसी स्थल का पूरा चित्र, साधारण-असाधारण सभी वस्तुओ का वर्णन, वस्तुओ की संलिष्ट योजना जैसी वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत के कवियो मे मिलती है वैसी प्रसादजी में नहीं क्योंकि वे वस्तुओ की प्राकृतिक सत्ता से उतने प्रभावित नहीं होते जितने वे उनके प्राप्त सङ्केतों से। उन्हे वस्तुओ का आत्मिक सौन्दर्य जितना प्रिय है उतना भौतिक नहीं। इसी लिए प्रकृति के भौतिक (बाह्य) स्वरूप पर उनकी दृष्टि कम टिकती

है। देव, पद्माकर आदि हिन्दी के रीति-कालीन कवियों के समान प्रकृति का वैसा स्फुट वर्णन प्रसादजी मे कही नहीं मिलेगा जिसमे प्रायः वस्तुओ के नाम भर गिनाने का प्रयत्न रहता है।

पात्रो की परिस्थिति अङ्कित करनेवाले प्रकृति वर्णन दो प्रकार के पाये जाते है। एक मे प्रकृति अपने वास्तविक रूप मे आती है, दूसरे मे भावाक्षिप्त रूप मे। दोनो प्रकार के वर्णनों द्वारा प्रकृति पूर्वपीठिका का काम करती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि पहले प्रकार के अर्थात् वे वर्णन कामायनी में नहीं हैं। जिनमे प्रकृति केवल पात्रों को खड़ा होने का आश्रय देती है जिनके बिना वे शून्य में खड़े प्रतीत होते जहाँ परिस्थिति और पात्रों में, तादात्म्य नहीं रहता। दूसरे प्रकार के वर्णनो से कामायनी भरी पड़ी है।

ऊर्ध्व देश उस नील तमस में,
स्तब्ध हो रही अचल हिमानी।
पथ थककर है लीन चतुर्दिक्,
देख रहा वह गिरि अभिमानी॥

इस प्रकार हिमालय का वर्णन दूर तक चलता है। पूर्व-पीठिका (back-ground) के रूप मे आई हुई प्रकृति पात्रो के भावों के अनुकूल होकर उनसे तादात्म्य स्थापित करती है। इस प्रकार का वर्णन रसमग्न करने मे बड़ा सहायता करता है, पात्र की मनोवृत्ति के विश्लेषण में स्पष्टता लाता है तथा खण्डशः प्रतीत होनेवाले दृश्यो को अखण्ड बनाता है। परन्तु प्रकृति के इस प्रकार के चित्रण मे बड़ी कारीगरी की आवश्यकता होती है। इसमे अनुभवी लेखक ही सफल होते है। इस प्रकार के वर्णन मे प्रसादजी आधुनिक हिन्दी कवियो में सबसे अधिक सफल

दिखाई पड़ते है। मनु दूसरी बार भी श्रद्धा और मानव को छोड़कर ग्लानिवश भाग जाते है, उस रात्रि की शून्य प्रकृति का चित्र देखिए कि किस प्रकार श्रद्धा की परिस्थिति अङ्कित करने मे कवि पूर्ण समर्थ है।

उजले उजले तारक झलमल,
प्रतिबिम्बित सरिता वक्षस्थल।
धारा बह जाती बिम्ब अटल,
सुनता था धीरे पवन-पटल।
चुपचाप खड़ी थी वृक्ष - पाँत,
सुनती जैसे कुछ निजी बात।
धूमिल छाया मे रही धूम,
लहरी पैरों की रही घूम।

यहाँ परिस्थिति तथा आलम्बन मे कैसा तादात्म्य है। श्रद्धा, मानव, तथा इड़ा का धूमिल चित्र ही छाया को धूमिल बना रहा है। तीनो चुपचाप खड़े है। प्रिय जन के चले जाने पर जैसी निःस्तब्धता छा जाती है वैसी ही नि.स्वनता यहाँ छाई है। उसका प्रभाव चेतन तक ही नहीं जड़ तक मे व्याप्त है। इस प्रकार का वर्णन कामायनी में अधिक मिलता है।

प्रसादजी मे प्रकृति का प्रस्तुत वर्णन भी भावाक्षिप्त रूप मे ही अधिक मिलता है। इस प्रकार के वर्णन मे वे अपनी व्यापक अनुभूति के कारण बहुत अधिक सफल हुए है। कल्पना पर पूर्ण अधिकार रखने के कारण उन्हे प्रकृति के अवयवों में मानवीय चेष्टाओ का आरोप करने में पूर्ण सफलता मिली है। वर्ड्सवर्थ की भाँति प्रसादजी प्रकृति के बाह्य सौन्दर्य से जब सन्तुष्ट नहीं हुए तब उन्होने उसके अभ्यन्तर मे प्रवेश किया और

वहाँ भी उन्हे वही आत्मा मिली जो मानव के अन्तस् मे व्याप्त है। अतः उनका प्रकृति-वर्णन सजीव है। प्रसादजी की प्रकृति चेतना-सम्पन्न होने के कारण पात्रो के भावो का प्रत्युत्तर (response) शीघ्रता तथा सरलता से देती है जिससे रस-सिद्धि सुगमता से हो जाती है। रस-परिपाक मे आश्रय और आलम्बन के सचेतन होने से ही काम नहीं चलता प्रत्युत दोनो के भावो का एक-दूसरे द्वारा प्रत्युत्तर भी मिलना चाहिए। इसी कारण देवता विषयक रति रस के अन्दर नहीं आती; क्योंकि देवता की ओर से भावो का प्रत्युत्तर या सङ्केत नही मिलता।

कतिपय विद्वान् समीक्षक प्रसादजी के सजीव प्रकृति-वर्णन में अँगरेजी साहित्य का प्रभाव देखते है उन्हे यह ज्ञात नही कि प्रकृति का जैसा सजीव वर्णन भारत में हुआ है वैसा विश्व के किसी भी साहित्य म नही। ऋग्वेद मे मरुत्, वरुण, अग्नि, ऊषा, सूर्य, चन्द्र आदि देवताओ के मन्त्र प्रकृति के सजीव रूप के गुणगान ही तो है। अर्थात् प्रकृति के आत्मिक सौन्दर्य का दर्शन हमारे वैदिक युग के ऋषियो ने यूरोप के कवियो से करोड़ो वर्ष पहले किया था। दूसरे, प्रसादजी ने अँगरेजी साहित्य से अधिक अपने प्राचीन वैदिक साहित्य का अध्ययन किया था। अतः प्रकृति के सजीव वर्णन की प्रेरणा यदि उन्हे कही से मिल सकती थी तो प्राचीन वैदिक साहित्य से ही।

वस्तुत. काव्य के क्षेत्र में प्रकृति का संवेदनशील सजीव रूप गृहीत है वैज्ञानिको के लिए प्रकृति भले ही जड़ तथा असवेदन-शील रही हो, (यद्यपि प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र वोस ने भी प्रकृति की सवेदनशीलता सिद्ध कर दी है) परन्तु कवियो के लिए सदा सजीव रही है। वैज्ञानिको के प्रश्नो तथा भावो का प्रत्युत्तर प्रकृति से भले ही न मिले पर कवि तो अपने प्रश्नो तथा

भावों का प्रत्युत्तर प्रतिक्षण संवेदनशील प्रकृति से पाते ही रहते है। इस प्रकार भावो के परस्पर प्रत्युत्तर से रससिद्धि में सरलता होती है। अतएव सच्चे कवि प्रसादजी के लिए प्रकृति को सजीव देखना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार प्रकृति की आत्मा मानव आत्मा से मिलकर एकाकार हो गई है। प्रसादजी ने कामायनी के प्रारम्भ में ही प्रकृति का मानव से सङ्घर्ष दिखाया है, वह मानव-जीवन की रात्रि थी। प्रकृति ने पहले मानव को पराजित किया; फिर उसे निर्बल देखकर प्यार करना प्रारम्भ किया और अन्त मे वह स्वयं पराजित हुई। अब प्रकृति का रौद्र तथा भयङ्कर रूप छिप गया, वह हँसती हुई दिखलाई पड़ने लगी—

वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का,
आज लगा हँसने फिर से।
वर्षा बीती हुआ सृष्टि में,
शरद-विकास नये सिर से।
उषा सुनहले तीर बरसती,
जब लक्ष्मी सी उदित हुई।
उधर पराजित कालरात्रि भी
जल मे अन्तर्निहित हुई।

कामायनी में इस प्रकार के भावाक्षिप्त वर्णन स्थान-स्थान पर मिलेंगे। इन वर्णनों में प्रकृति का चित्र ही नहीं उतरता वरन् एक रूप भी खड़ा हो जाता है, जिसमें कम्पन है, स्पन्दन है, गति है और जो बोलता है, हँसता है। इन रूपों से केवल आँखो को ही तृप्ति नहीं मिलती, वरन् हृदय भी

आनन्दित होता है, इनमें प्रकृति का अङ्ग-प्रत्यङ्ग ही नहीं दिखाई पड़ता वरन् उसकी आत्मा भी झाँकती है। इनकी छवि से मन ही मुग्ध नहीं होता वरन् सामीप्य-प्राप्ति की लालसा भी जगती है। सामीप्य लाभ करने पर इन रूपों में सुषमा की ऐसी बिखरी हुई राशि मिलती है जिसे लूटते हुए अकिंचन भावुक हृदय अघाता नहीं। इन रूपों मे कवि की स्वाभाविक सहृदयता ही नहीं रहती वरन् उसका अपनापन भी रहता है। मानव चेष्टाओ तथा क्रिया-कलापों से प्रकृति का ऐसा अनूठा सामंजस्य कम कवियो में मिलता है।

अलकृत वर्णनो के अन्तर्गत ऐसे वर्णन आते है—

> नव नील कुञ्ज है झीम रहे,
> कुसुमो की कथा न वन्द हुई।
> है अन्तरिक्ष आमोद भरा,
> हिम-कणिका ही मकरन्द हुई।
> इस इन्दीवर से गन्ध भरी,
> बुनती जाती मधु की धारा।
> मन मधुकर की अनुरागमयी,
> बन रही मोहिनी-सी कारा।

प्रसाद के इन अलकृत वर्णनो मे मधुरिमा है, रमणीयता है; केशवदास के समान यहाँ अलङ्कारो के चमत्कार की प्रधानता नहीं, वरन् रूपक के प्रयोग से वस्तुओं की संश्लिष्ट योजना है जिससे बिम्बग्रहण कराने में कवि को सरलता होती है तथा भावो की अनुभूति में सहायता मिलती है। स्मरण रखना चाहिए कि अलंकृत रूप मे 'प्रसादजी' दोहरे रूपक तक रख देते है पर

इससे दृश्य की रमणीयता हृदयङ्गम करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

अप्रस्तुत रूप में प्रकृति का विधान वहाँ समझना चाहिए जहाँ वह किसी अङ्गी का अङ्ग होकर आये। जब उद्दीपन के लिए प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन किया जायगा अथवा किसी रूप, गुण, क्रिया, भाव आदि के स्वरूप का बोध कराने के लिए प्रकृति का उपयोग होगा तो यह उसका अप्रस्तुत विधान कहा जायगा। अप्रस्तुत रूप में प्रकृति का जो उपयोग होता है उसमे सबसे पहले उद्दीपन रूप पर विचार करना चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'कामायनी' में उद्दीपक वर्णन की ही प्रधानता है जिस किसी भी काव्य मे मानव वृत्तियों के विश्लेषण की प्रधानता होगी उसमें प्रकृति का उद्दीपन रूप मे आना स्वाभाविक है क्योकि इससे मानव-वृत्तियो के प्रभाव एवं प्रसार मे व्यापकता आती है, आश्रय से तादात्म्य-स्थापित करने में सरलता होती है तथा रस-स्थिति तक पहुँचने में सुगमता होती है। इस प्रकार के वर्णन को यदि कहना चाहे तो हम मानव-सापेक्ष्य वर्णन कह सकते हैं क्योकि इसमें प्रकृति कवि या पात्रों की मानस मूर्ति धारण कर सामने आती है। पात्र उसे अपने हृदयस्थित भावो के रङ्ग में रँगा हुआ देखता है। आनन्द की स्थिति में प्रकृति को हँसता हुआ तथा दुःख की स्थिति मे प्रकृति को रोता हुआ पाता है। संयोग के समय में मनु को प्रकृति कैसी दिखलाई पड़ती है—

> निश्चिन्त आह! वह था कितना,
> उल्लास काकली के स्वर में।
> आनन्द प्रति-ध्वनि गूँज रही,
> जीवन दिगन्त के अम्बर में॥

लतिका घूँघट से चितवन की,
वह कुसुम दुग्ध सी मधुधारा।
प्लावित करती मन अजिर रही,
था तुच्छ विश्व-वैभव सारा।

श्रद्धा और मनु के मधुर मिलन के समय लतिका घूँघट से झाँकते हुए कुसुम, दृष्टि-विक्षेप से मधु-धारा बहा रहे हैं, मनु को अवनी से अम्बर तक सर्वत्र प्रेम-सौन्दर्य तथा आनन्द का राज्य छाया हुआ दिखाई पड़ता है।

वियोग की स्थिति मे प्रकृति का उद्दीपक वर्णन प्रसादजी ने विलक्षण ढङ्ग से किया है। शृङ्गार के उद्दीपन विभाव का शास्त्रीय स्वरूप यही है कि सयोग के समय प्रकृति का विलास सुखप्रद तथा अयोग के समय विषादप्रद हो। पर प्रसादजी ने तादात्म्य की ऐसी मार्मिक अनुभूति सामने रक्खी है कि जिससे विरही प्रकृति को कष्टप्रद न पाकर अपनी दशा के मेल मे पाता है। सम्भव है शास्त्र का विशेष आग्रह रखनेवाले इसे उचित न समझे, पर प्रस्तुत रूप में प्रकृति के वर्णन का उल्लेख करते हुए यह कहा जा चुका है, कि वह भावाक्षिप्त रूप मे भी रक्खी जाती है। उद्दीपन के रूप में भी प्रकृति पर भाव का आक्षेप करने से यही बात होती है। संयोगावस्था की तो कोई बात ही नहीं। केवल विप्रलम्भ की अवस्था मे यह कहा जा सकता है कि यदि प्रकृति दुःखद नहीं है तो वह विषाद की उद्दीप्ति कैसे करेगी? पर केवल उसके दुःखद होने से ही उद्दीपन हो ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, यदि प्रकृति भी उसी भाव मे मग्न दिखाई दे तो भी पात्र का हृद्गत भाव उद्दीप्त ही होगा। तादात्म्य की वह अनुभूति भी उद्दीपन का ही काम करेगी। इस पर यह आपत्ति हो सकती है कि क्या प्रकृति

के साथ दुःख मे भी तादात्म्य की अनुभूति हो सकती है। उत्तर होगा हॉ, जब कोई दुखी व्यक्ति कहता है कि 'मुझे संसार सूना जान पड़ता है—ससार मे अब धरा ही क्या है' तो यह इसी अनुभूति के कारण सूनेपन या हृदय के सूनेपन का लोक से तादात्म्य करके अथवा लोक पर अपने हृदय के सूनेपन का आरोप या आक्षेप करके व्यक्ति अपने दु:ख को बड़ा कर ही लेता है। प्रसादजी के ऑसू में इसी प्रकार की उक्तियाँ आई है—

चातक की चकित पुकारें
श्यामा ध्वनि सरल रसीली।
मेरी करुणार्द्र कथा की
टुकड़ी ऑसू से गीली।

कामायनी में भी विरहिणी श्रद्धा प्रकृति को अपनी दशा के मेल में ही पाती है—

विरल डालियो के निकुञ्ज सब ले दुख के निश्वास रहे।

× × × ×

तृण गुल्मो से रोमांचित नग सुनते उस दुख का।
श्रद्धा की सूनी सॉसों से मिलकर जो स्वर भरते थे।

प्रकृति का उद्दीपक वर्णन भी दो रूपो मे पाया जाता है, पहले प्रकार के वर्णन मे प्रकृति का रूप पीछे पड़ जाता है और उद्दीप्त होनेवाला भाव आगे आ जाता है। दूसरे प्रकार के वर्णन मे प्राकृतिक दृश्य तथा व्यापार अपना वास्तविक स्वरूप संरक्षित रखते हुए भी भावोद्दीपन मे सहायक हो सकते है। प्रथम प्रकार का वर्णन रत्नाकर, जायसी, पद्माकर आदि कवियो मे अधिक मिलता है। प्रसादजी मे दूसरे प्रकार के वर्णन अधिक मिलते हैं। श्रद्धा और मनु के हृदय मे प्रेम की वासना जगी है। दोनों प्रेम मे

मतवाले हो चन्द्रिका चर्चित यामिनी मे मधुविलास (Honey moon) का आनन्द ले रहे है, उस समय की प्रकृति का उद्दीपक रूप देखिए—

मधु बरसती विधु किरण है काँपती सुकुमार,
पवन मे है पुलक मंथर चल रहा मधु भार।

× × × ×

आ रही थी मदिर भीनी माधवी की गंध,
पवन के घन घिरे पड़ते थे बने मधु अंध।

ऐसे वर्णनों मे प्रसादजी प्राय· केन्द्रीय असाधारण वस्तुओ या व्यापारो को चुनते हैं जिससे दृश्यो मे सशोधन होने के कारण प्रकृति मे भाव उद्दीप्त करने की शक्ति अधिकाधिक बढ़ जाती है। ये वर्णन प्राकृतिक दृश्यो तथा व्यापारो का रूप सुरक्षित रखते हुए सवेदनात्मक अनुभव भी कराते हैं। इस प्रकार के प्राकृतिक वर्णनों मे स्थानगत तथा समयगत विशेषता भी वर्तमान है जो प्रबन्धकाव्य के लिए अनिवार्य मानी गई है। प्रसादजी ने हिमालय की तराई मे देवदारु के लम्बे लम्बे वृक्ष अधिक दिखाये हैं तथा हरियाली की चित्रपटी बिछाई है। सैकड़ो शीतल झरने तराई की ओर प्रवाहमान हैं। गगनचुम्बी शैलश्रेणियो पर तुषार-किरीट सुशोभित है, नीहार चतुर्दिक् छाया है, श्रेणियो के ऊपर घन-मालाएँ सन्ध्याकाल मे रङ्ग-बिरङ्गी छीट ओढ़े शोभित है तथा माधवी की भीनी-भीनी गध चतुर्दिक् फैल रही हैं। इन प्रसंग-प्राप्त वर्णनो मे कवि की दृष्टि साधारण वस्तुओ पर नहीं गई है किसी भी दृश्य में स्वरूप की पूरी रेखाएँ स्पष्ट नही हैं। कहीं भी जमकर कवि ने प्रकृति का वर्णन ब्योरेवार नहीं किया है, एक रेखा यहाँ एक वहाँ खींची गई है, कुछ रङ्ग भरा है, कुछ

खाली है। कामायनी की भावोत्कर्पता पर ध्यान जाते ही यह ज्ञात हो जाता है, कि भावो मे उत्कर्ष दिखाने के लिए काव्य मे असाधारणत्व अपेक्षित है। इसी लिए प्रसादजी ने प्राकृतिक दृश्यो के वर्णन मे सार्थक केन्द्रीय वस्तुएँ ही चुनी है। कवि लोग अर्थ और वर्ण-विन्यास के लिए जिस प्रकार वस्तुओ का चुनाव तथा शब्दो में शोधन करते है, उसी प्रकार दृश्यो मे मर्म-स्पर्शिता तथा प्रभावोत्पादकता लाने के लिए दृश्यो में संशोधन भी करते है। किसी भी स्थान या समय मे जो वस्तु या व्यापार अधिक आकर्षक तथा मर्मस्पर्शी होता है उसी पर भावुक कवि की दृष्टि जाती है। इसी भावुक दृष्टि से प्रसादजी ने दृश्य संशोधन किया है।

अप्रस्तुत रूप मे प्रकृति-वर्णन का दूसरा रूप कामायनी मे कवि का रहस्यवादी स्वरूप व्यक्त करता है, पर प्रसादजी ने उसे वर्णन तथा समय की दृष्टि से ऐसा उद्देश्यपूर्ण बनाया है कि वह वर्णन वहाँ के लिए अत्यन्त उपयोगी प्रतीत होता है। सृष्टि के आदि में मानव ने पहले प्रकृति को इसी रूप मे देखा होगा। वह गगनचुम्बी पर्वतो, कल-कलनादिनी द्रुत गति से भागती सरिताओ, हेमवर्णाभ उषा, प्रकाशपुंज सविता, सुधानिधि-सोम आदि को विश्व के नव एकान्त मे देख आश्चर्यचकित हो गया होगा। उसकी मुग्धता ने जिज्ञासा की भावना घनीभूत कर दी होगी। वह अचानक बोल उठा होगा—

महा नील उस परम व्योम मे अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह नक्षत्र और विद्युत कण किसका करते है सधान।
छिप जाते है और निकलते आकर्षण में खिंचे हुए,
तृण वीरुध लहलहे हो रहे किसके रस में सिंचे हुए।

सिर नीचा कर किसकी सत्ता सब करते स्वीकार यहाँ,
सदा मौन से प्रवचन करते जिसका वह अस्तित्व कहाँ।

आगे चलकर कवि इन् प्रश्नो का उत्तर भी दे देता है कि इन विभूतिमय वस्तुओं के अन्तर्गत विराट विश्वदेव की सत्ता व्याप्त है। अद्वैत भावना के अनुसार 'प्रसादजी 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के अनुयायी हैं, इसी कारण वे प्रकृति के भीतर शिव का दर्शन करते है। उनकी प्रकृतिगत धारणा विश्वसुन्दरी की है। 'शरीर त्वम् शम्भोः' के अनुसार वे प्रकृति को पुरुष का शरीर मानते हैं। प्रसादजी सिद्धान्ततः शैवागमवादी थे। वे शक्ति के दो स्वरूप मानते थे आनन्दरूपिणी तथा स्पन्दरूपिणी। शक्ति जब अस्पन्द रूप है तब वह शिव मे लीन रहती है। स्पन्द रूप होने पर वह जगत् का आकार धारण करती है और तब हम उसका प्रकृति रूप में दर्शन पाते है। इसी सिद्धान्त को मानने के कारण प्रसादजी की प्रकृति मे सर्वत्र चेतनता पाई जाती है। साहित्य मे विश्वसुन्दरी प्रकृति मे चेतनता का आरोप संस्कृत वाङ्मय मे प्रचुरता से उपलब्ध है। वर्तमान हिन्दी साहित्य मे प्रसादजी के अतिरिक्त महादेवी, पन्त, निराला, रामकुमार वर्मा आदि रहस्यवादी कवियों में अद्वैत की सौन्दर्यमयी व्यञ्जना प्रकृति-चित्रण के अन्तर्गत होने लगी है। इसमे अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अह का इदं से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है।

अप्रस्तुत रूप मे प्रकृति का तीसरा विधान अलङ्कार के भीतर आया है। प्रकृति प्रसाद के लिए सौन्दर्य का अनन्त और अक्षय भाण्डार है; इसी लिए रूप गुण क्रिया भाव आदि मे सौन्दर्य लाने के लिए प्रकृति का उपयोग अलङ्कारो के रूप मे स्थान-स्थान पर हुआ है। अलङ्कार रूप मे प्रकृति का उपयोग करने मे कवि ने माधुर्य का विशेष ध्यान रक्खा है। साम्य दो प्रकार का

होता है- एक तो आकृति-साम्य दूसरा गुण-साम्य। इनमें वही साम्य अच्छा होगा जो अर्थ और अलंकार्य के प्रभाव में बढ़ता जा सके। प्रसादजी ने इसका बराबर ध्यान रखा है। जैसा कि श्रद्धा की आकृति के इस मनोरम चित्र से अवगत होता है।

"कुसुम-कानन-अंचल में मन्द,
  पवन-प्रेरित-सौरभ साकार।
रचित परमाणु पराग शरीर,
  खड़ा हो ले मधु का आधार।
और पड़ती हो उस पर शुभ्र,
  नवल मधुराका मन की साध।
हँसी का मद-विह्वल प्रतिबिम्ब,
  मधुरिमा खेला सदृश अबाध।"

श्रद्धा और इड़ा दोनों के नारी-रूप-वर्णन में प्रसादजी ने प्रकृति के उपकरणों से काम लिया है। कहीं-कहीं अगोचर भावों को गोचर करने के लिए तथा उनके सम्मिलित माधुर्य की व्यञ्जना के लिए उन्होंने प्रकृति को अलङ्कार रूप में रक्खा है।

१—सुख केवल सुख का वह संग्रह,
  केन्द्रीभूत हुआ इतना।
छाया-पथ में नव तुषार का,
  सघन मिलन होता जितना।
२—ओ चिन्ता की पहली रेखा,
  अरी विश्व वन की व्याली।
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण,
  प्रथम कम्प सी मतवाली।

कामायनी में प्रकृति की ऐसी पीठिका प्रस्तुत की गई है जिससे उसकी रमणीयता बहुत बढ़ गई है। काम के आने के पूर्व कवि ने प्रकृति की बड़ी ही रम्य भूमिकाएँ बाँधी है। कविता मे प्रकृति-वर्णन के सभी रूपों की ऐसी सुन्दर तथा मधुर योजना करनेवाला और उसके प्रति ऐसी मार्मिक दृष्टि रखनेवाला हिन्दी में सम्प्रति कोई दूसरा कवि नहीं दिखाई देता। प्रसाद को प्राकृतिक दृश्यों के प्रति स्वाभाविक आकर्षण था तथा प्रकृति के नाना रूपो मे उनके हृदय का सामंजस्य था। उनका निरीक्षण बहुत ही स्पष्ट और अनुभूति बहुत ही सच्ची थी। उन्होंने सचमुच प्रकृति-वर्णन द्वारा जगत् को रसमय सिद्ध कर दिया है।

प्रसादजी के प्रकृति-वर्णन मे देशगत, कालगत, जातिगत तथा संस्कृति-गत विशेषताएँ वर्तमान है। भारत देश की सारी श्री, अखिल विभूति तथा सम्पूर्ण गौरव प्रकृतिजन्य है। प्रकृति-प्रदत्त वस्तुओ से ही प्राचीन आर्यों का जीवन वैभवशाली हुआ। इसी कारण कृतज्ञ आर्यों ने श्रद्धानत होकर प्रकृति की कभी ईश्वर-विग्रह कभी देवता के रूप में उपासना की। अपना सम्पूर्ण जीवन (चारों आश्रम) प्रकृति की रम्य गोद मे ही बिताने का आयोजन किया। उनकी प्रवृत्तिपीठिका ही नही वरन् निवृत्ति-भूमिका भी प्रकृति की पुनीत गोद मे प्रतिष्ठित हुई। वे अपना शिक्षा-काल प्रकृति के आँगन मे, शृंगार-क्षण उपवन मे तथा चिन्तन के क्षण तपोवन मे ही बिताते थे। जहाँ वे प्रकृति जीवन से दूर हुए वहाँ अभिशाप लगा। प्रकृति जिस क्रम से हिन्दू जीवन मे मिलती है ठीक वही क्रम कामायनी मे है। मनु का चिन्तन-क्षण प्रकृति के प्राङ्गण में, विहार तथा क्रीड़ा-काल अलंकृत प्रकृति के आँगन मे तथा मुक्ति या निर्वाण-वेला प्रकृति की पुनीत गोद मे ही दिखाई पड़ती है। जहाँ वे प्रकृति

से अलग हट सारस्वत नगर में मशीन तथा यन्त्रों के लोक में पड़ते हैं वहीं प्रकृति क्रुद्ध होकर विप्लव उपस्थित करती है। प्रजा उनके विरुद्ध आन्दोलन करती है और वे देश से बाहर निकाल दिये जाते हैं। अन्ततो गत्वा प्रकृति की शरण लेने पर ही उन्हें शान्ति मिलती है। प्रकृतिवादी ही होने के कारण प्रसादजी यन्त्रों को प्रकृत शक्ति छीननेवाली तथा जीवनी जर्जर बनानेवाली कहते हैं।

"प्रकृत शक्ति तुमने यन्त्रों से सबकी छीनी।
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।"

ग्रन्थ का आदि, मध्य तथा अवसान सभी प्रकृति के क्षेत्र में होता है। महाकाव्य की साध्य भूमि भी प्रकृति ही है क्योंकि अखण्ड आनन्द की सृष्टि, समरसता की साकार मूर्ति प्रकृति के पुनीत क्षेत्र (कैलासाश्रम) में ही दिखाई पड़ती है। इससे यही प्रतीत होता है कि आनन्द की खोज में विकृति की ओर दौड़ते हुए भ्रान्त जगत् को कवि कामायनी द्वारा प्रकृति की ओर लौटने का सन्देश देता है।

चरित्र-चित्रण

कामायनीगत चरित्र-चित्रण की विशेषता तथा सफलता का ठीक ज्ञान तभी हो सकता है जब हम उसके अन्तर्निहित सिद्धान्त को समझ ले। इसलिए चरित्र-चित्रण पर विचार करने के पूर्व उसके उद्देश्य तथा प्रणाली पर विचार कर लेना आवश्यक है। प्रसादजी की दृष्टि मे काव्य का साध्य भाव या रस है चरित्र-चित्रण नहीं। उन्होंने अपनी 'काव्य और कला' नामक निबन्ध-पुस्तक मे बताया है कि भारतीय काव्य-प्रणेता रस के लिए इन चरित्र और व्यक्ति वैचित्र्यो को साधन मानते रहे, साध्य नही।" प्रसादजी की दृष्टि मे प्रकृत काव्य का साध्य चरित्र-चित्रण नहीं, रस-सञ्चार है। यह पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव है कि कुछ लोग रस-सिद्धान्त से चरित्र-चित्रण को अधिक महत्त्व देने लगे है। प्रसादजी ने क्या नाटक, क्या उपन्यास; क्या कहानी, क्या काव्य, कहीं भी चरित्र-चित्रण को अधिक महत्त्व नहीं दिया है, किन्तु उसकी सर्वथा उपेक्षा भी नही की है।

चरित्र-चित्रण सम्बन्धी दो वाद काव्य-जगत् मे अत्यधिक प्रचलित है—आदर्शवाद और यथार्थवाद। उन्होंने दोनो अतिवादो का तिरस्कार करके मानवता की सामान्य भूमि अपनाई। इसी कारण उनके ऊँचे आदर्शों के उपासक पात्र भी मानव स्वभाव के ही है। उनका जीवन साँचे मे ढला नही है। उन्होंने कुत्सित-भावनावाले पात्रो को भी एकदम बुरा नहीं बनाया है। उनमे

भी कुछ न कुछ गुण वर्तमान हैं। कामायनी में भी ऊँचे आदर्शों की उपासिका श्रद्धा मानव है तथा विलासी मनु भी उसी प्रकार के मनुष्य हैं जैसे साधारण हुआ करते हैं। इसी सिद्धान्त का यह प्रभाव है कि कामायनी की भित्ति दार्शनिक होने पर भी उसके पात्र इतने आदर्शवादी नहीं हुए कि धार्मिक प्रवचन-कर्ता बन जायँ और न तो कथानक ऐतिहासिक होने पर चरित्र कार यथार्थवादी ही हुए जिससे वे ऐतिहासिक पात्र से कुछ अधिक न होते। प्रसादजी की दृष्टि में कोरा आदर्शवादी धर्मशास्त्र-प्रणेता है तथा निरा यथार्थवादी इतिहासकर्ता। किन्तु साहित्यकार न तो धर्मशास्त्र-प्रणेता है न इतिहासकर्ता। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरी करता है। वह समाज की वास्तविक स्थिति दिखाते हुए उसमें आदर्शवाद का सामञ्जस्य स्थापित करता है। प्रसादजी, चरित्राङ्कण की सफलता पात्रों की सजीवता में मानते थे। तभी तो उनके पात्र इतने सजीव हैं, उनमें वास्तविक सृष्टि की इतनी अधिक अनुरूपता है तथा उनमें मानवता का ऐसा सुन्दर चित्र है कि पुस्तक का सूक्ष्म विवरण भूल जाने पर भी वे हमारी स्मृति में घूमा करते हैं। प्रसादजी अपने समय की माँग पहचानते

मे निष्णात थे। काव्य के क्षेत्र में आदर्श की ओर से अरुचि तथा यथार्थ का अभिनन्दन होते देखकर मध्य पथ का उन्होने अवलम्बन किया। अर्थात् यथार्थोन्मुख आदर्शवाद को अपनाया। इसलिए इन्होने कामायनी में मनु का चरित्र-चित्रण यथार्थवाद की दृष्टि से किया और श्रद्धा को आदर्शवाद की दृष्टि से अपनाया।

रस में लोकमङ्गल की भावना अन्तर्निहित मानने के कारण प्रसादजी उसके साधन चरित्र-चित्रण में भी लोक-मङ्गल की भावना स्वीकार करते हैं। अतएव उनके सभी पात्रो की व्यञ्जना मङ्गलकारिणी होती है। विलासी मनु के विलास का परिणाम विप्लव, क्षोभ, उद्वेग, अशान्ति आदि दिखाकर वे पाठको के मन मे विलास के प्रति घृणा की भावना पैदा करते है तथा सेवा, त्याग, उदारता, परमार्थ-प्रेम आदि उदात्त-वृत्तियो की प्रतिमा श्रद्धा के द्वारा आनन्द की सृष्टि कर सदाचार की प्रेरणा देते है।

प्रसादजी के चरित्र-चित्रण की कसौटी है मनोविज्ञान जिसके द्वारा वे पात्रो के कार्यों और भावो को चिरन्तन सत्य के रूप मे प्रतिष्ठित करते है। वे ऐतिहासिक पात्रो की ऐतिहासिकता की उतनी खोज नही करते जितनी मनोविज्ञान की। इसी लिए उनके ऐतिहासिक पात्रो मे ऐतिहासिकता की चाहे कुछ कमी हो परन्तु चिरन्तन मानवता के बारे में किसी को सन्देह नहीं।

चरित्र-चित्रण की दो प्रणालियाँ प्रचलित है—वर्णनात्मक तथा व्यञ्जनात्मक—परन्तु उत्तम काव्य मे व्यञ्जनात्मक प्रणाली ही अभिनन्दनीय है। लेसिंग (Lessing) के कथनानुसार भी यह आवश्यक नहीं कि पात्रो के चरित्र-सम्बन्धी साधारणतम विवरण दिये जायँ। क्योकि छोटी-छोटी अनावश्यक बातो के

भी कुछ न कुछ गुण वर्तमान हैं। कामायनी में भी ऊँचे आदर्शों की उपासिका श्रद्धा मानव है तथा विलासी मनु भी उसी प्रकार के मनुष्य है जैसे साधारण हुआ करते है। इसी सिद्धान्त का यह प्रभाव है कि कामायनी की भित्ति दार्शनिक होने पर भी उसके पात्र इतने आदर्शवादी नहीं हुए कि धार्मिक प्रवचन-कर्ता बन जायँ और न तो कथानक ऐतिहासिक होने पर चरित्र कोरे यथार्थवादी ही हुए जिससे वे ऐतिहासिक पात्र से कुछ अधिक न ठहरे। प्रसादजी की दृष्टि में कोरा आदर्शवादी* धर्मशास्त्र-प्रणेता है तथा निरा यथार्थवादी† इतिहासकर्ता। किन्तु साहित्यकार न तो धर्मशास्त्र-प्रणेता है न इतिहासकर्ता। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरी करता है। वह समाज की वास्तविक स्थिति दिखाते हुए उसमे आदर्शवाद का सामञ्जस्य स्थापित करता है। प्रसादजी, चरित्राङ्कण की सफलता पात्रों की सजीवता में मानते थे। तभी तो उनके पात्र इतने सजीव है, उनमे वास्तविक सृष्टि की इतनी अधिक अनुरूपता है तथा उनमे मानवता का ऐसा सुन्दर चित्र है कि पुस्तक का सूक्ष्म विवरण भूल जाने पर भी वे हमारी स्मृति मे घूमा करते है। प्रसादजी अपने समय की रुचि पहचानने

---

* दोनो पक्षो (आदर्श और यथार्थ) से रस का सीधा सम्बन्ध नहीं दिखाई देता।

('काव्य और कला' पृष्ठ ८५)

† सिद्धान्त से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता बन जाता है और यथार्थवादी सिद्धान्त से ही इतिहासकार से कुछ अधिक नहीं ठहरता।

('काव्य और कला' पृष्ठ १४२)

मे निष्णात थे। काव्य के क्षेत्र में आदर्श की ओर से अरुचि तथा यथार्थ का अभिनन्दन होते देखकर मध्य पथ का उन्होंने अवलम्बन किया। अर्थात् यथार्थोन्मुख आदर्शवाद को अपनाया। इसलिए इन्होंने कामायनी में मनु का चरित्र-चित्रण यथार्थवाद की दृष्टि से किया और श्रद्धा को आदर्शवाद की दृष्टि से अपनाया।

रस में लोकमङ्गल की भावना अन्तर्निहित मानने के कारण प्रसादजी उसके साधन चरित्र-चित्रण में भी लोक-मङ्गल की भावना स्वीकार करते हैं। अतएव उनके सभी पात्रो की व्यञ्जना मङ्गलकारिणी होती है। विलासी मनु के विलास का परिणाम विप्लव, क्षोभ, उद्वेग, अशान्ति आदि दिखाकर वे पाठको के मन मे विलास के प्रति घृणा की भावना पैदा करते है तथा सेवा, त्याग, उदारता, परमार्थ-प्रेम आदि उदात्त-वृत्तियों की प्रतिमा श्रद्धा के द्वारा आनन्द की सृष्टि कर सदाचार की प्रेरणा देते है।

प्रसादजी के चरित्र-चित्रण की कसौटी है मनोविज्ञान जिसके द्वारा वे पात्रो के कार्यों और भावों को चिरन्तन सत्य के रूप मे प्रतिष्ठित करते है। वे ऐतिहासिक पात्रों की ऐतिहासिकता की उतनी खोज नहीं करते जितनी मनोविज्ञान की। इसी लिए उनके ऐतिहासिक पात्रो में ऐतिहासिकता की चाहे कुछ कमी हो परन्तु चिरन्तन मानवता के बारे में किसी को सन्देह नहीं।

चरित्र-चित्रण की दो प्रणालियाँ प्रचलित है—वर्णनात्मक तथा व्यञ्जनात्मक—परन्तु उत्तम काव्य मे व्यञ्जनात्मक प्रणाली ही अभिनन्दनीय है। लेसिंग (Lessing) के कथनानुसार भी यह आवश्यक नहीं कि पात्रो के चरित्र-सम्बन्धी साधारणतम विवरण दिये जायें। क्योंकि छोटी-छोटी अनावश्यक बातों के

विवरण से काव्य में नीरसता आ जाती है। पात्रों का चरित्र स्पष्ट करने के लिए उनके क्रियाकलाप, रीति-नीति, बोल-चाल तथा मनोवृत्ति का कितना और कैसा वर्णन अपेक्षित है इसे प्रसादजी भली भाँति जानते थे। इसलिए उन्होंने कामायनी में पात्रों की बाह्य एवं अन्तर्विशेषताओं का सूक्ष्म ज्ञान करके उन्हीं को चुना जिनसे पात्रों के महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व की भली भाँति व्यञ्जना हो सके। जो समीक्षक या आलोचक प्रसादजी की संकेतात्मक प्रणाली से अनभिज्ञ है; वे कामायनी मे चरित्र-चित्रण का पूर्ण प्रस्तार न पाकर उसके महाकाव्यत्व में सन्देह करते है। वस्तुतः चरित्र का प्रस्तार उन्हीं काव्यों में होता है जिनमें परिस्थितियो की अधिकता होती है, बाह्य कार्य की प्रधानता होती है, वस्तु का विस्तार रहता है तथा पात्रो की संख्या अधिक रहती है; परन्तु कामायनी में उपर्युक्त एक भी बात नहीं, तब भला कवि चरित्र का प्रस्तार कैसे करेगा। इसका यह भी तात्पर्य नहीं कि कामायनी के पात्रों में जीवन की पूर्णता नहीं है। कामायनी मे श्रद्धा और मनु लौकिक जीवन समाप्त कर आध्यात्मिक जीवन में भी साथ रहते है। भारतीय दृष्टि से इतना पूर्ण जीवन कदाचित् ही किसी काव्य में मिले। हाँ! यह दूसरी बात है, कि उस पूर्णता का विस्तृत वर्णन नहीं है। पर इससे काव्य के उत्कर्ष में कोई बाधा नहीं पड़ती। क्योंकि पात्रो के सांकेतिक चरित्र-चित्रण द्वारा भी तत्कालीन मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक चित्र खींचने में कामायनी पूर्णतः समर्थ है। अतः यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कामायनी महाकाव्यगत चरित्राङ्कण के मुख्य उद्देश्य को पूर्ण करती है।

पात्रों की संख्या के मूल में यही सिद्धान्त है कि महाकाव्य में उनके द्वारा नायक और नायिका का चित्र पूर्ण किया जाता है,

जिनकी विशेषता दिखाने के लिए अन्य पात्र आते है अथवा सामाजिक जीवन की विविधता दिखाने के लिए। इस सिद्धान्त का पालन भी कामायनी के पात्र पूर्णतः कर रहे है। श्रद्धा और मनु के चरित्राङ्कण के लिए जिस समय जिस पात्र की जितनी मात्रा में आवश्यकता होती है उतनी ही देर के लिए वह कामायनी मे उपयुक्त स्थान पर आता है। कामायनी के इतने ही पात्रो द्वारा सात्त्विक, राजस, तामस; श्वेत, अरुण, श्याम; देव, असुर; सरल गूढ़ आदर्श और यथार्थ तथा आचार-प्रधान एवं स्वभाव-प्रधान सभी प्रकार के चरित्र आ जाते हैं। उनमें वर्गगत, जातिगत, व्यक्तिगत मानवतागत आदि सभी विशेषताएँ हैं। श्रद्धा स्त्री जाति की प्रतिनिधि ही नहीं अपितु अपना एक अलग व्यक्तित्व भी रखती है। उसमें जीवन की इतनी अधिक सामान्य विशेषताएँ हैं कि वह मानवता की प्रतीक भी बन गई है। मनु अपना एक अलग व्यक्तित्व रखते हुए भी पुरुष-जाति का प्रतिनिधित्व ग्रहण करते हैं, तथा निरङ्कुश नृपति के प्रतीक रूप मे भी आते हैं। महाकाव्य का नायक सामान्यतः मानव नियति destiny— के प्रतीक रूप में आता है।* सचमुच ध्यान से देखा जाय तो मनु का चरित्र साम्प्रत मानव के दुख, अभाव, अशान्ति एवं उद्वेगपूर्ण जीवन का प्रतिबिम्ब है। आज श्रद्धा विरहित मानव बुद्धि के वश में आनन्द की खोज कर रहा है। परन्तु परिणाम क्या मिलता है ? घोर विप्लव, युद्ध, अशान्ति, दुःख, उद्वेग, क्षोभ आदि जैसा कि मनु को मिला।

---

* Epic symbolizes the destiny in general

(The epic) Abercrombie.

विश्लेषणात्मक (Analystic characterisation) चरित्राङ्कण में विवरणात्मक अभिमत प्रकट करने की रसहीन शैली का आश्रय कवि ने कम लिया है। कवि के नाटककार होने के कारण कामायनी में भी अभिनयात्मक शैली स्वतः अधिक मात्रा में आ गई है, जिससे पात्रो में वास्तविकता तथा सजीवता अधिक मात्रा मे मिलती है। प्रसादजी ने कामायनी में पात्रो के अन्तर्पक्ष पर बहिर्पक्ष की अपेक्षा अधिक ध्यान दिया है, इसी लिए पात्रो के स्वगत कथन बहुत लम्बे हो गये हैं। परन्तु उन स्थलो पर भावावेश की अधिकता दिखाकर कवि ने उनको मनोविज्ञानत. यथार्थ बना दिया है। 'लज्जा', 'काम' तथा 'इड़ा' सर्ग में इस प्रकार के लम्बे स्वगत भाषण अधिक मिलते है। इड़ा सर्ग में मनु के मानसिक द्वन्द्व का बहुत सुन्दर चित्र खींचा गया है। 'काम' सर्ग में 'काम' भाव की बड़ी ही लम्बी भूमिकाएँ तैयार की गई हैं। लज्जा सर्ग में लज्जा होने के समय उत्पन्न होनेवाली अन्य सभी बाह्य चेष्टाओ और वृत्तियो का चित्र उपस्थित किया गया है। किसी भी भाव विशेष या परिस्थिति विशेष मे किसी पात्र के हृदय में अधिक से अधिक कितने मनोविकार उत्पन्न हो सकते थे इसे प्रसाद से अधिक कदाचित् ही किसी कवि ने दिखाया हो।

प्रसादजी चरित्र की अधिक स्पष्टता के लिए नाटक-उपन्यास-काव्य-सबमें पात्रो के ऐसे युग्म उपस्थित करते है जो एक दूसरे की तुलना में आ सकते है। कामायनी में पात्रों की कमी होते हुए भी चरित्राङ्कण की तुलनात्मक प्रणाली नहीं छोड़ी गई। श्रद्धा की तुलना में इड़ा तथा मनु की तुलना में मानव उपस्थित किया गया है। श्रद्धा हृदय का प्रतिनिधित्व करती है तो इड़ा बुद्धि का। एक में धर्मनीति की प्रधानता है तो दूसरे में राजनीति की। श्रद्धा के राज्य में आनन्द, कल्याण, मङ्गल, शान्ति

का वास है तो इड़ा के प्रदेश मे कोलाहल तथा अशान्ति का। श्रद्धा को प्राचीन ग्रामीण जीवन के प्रतीक के रूप मे रखकर कवि ने दिखाया है कि ग्राम्य-जीवन कितनी श्रद्धा, दया, उदारता, स्नेह, सेवा तथा बलिदान से भरा है। इड़ा द्वारा नागरिक जीवन का चित्र दिखाया गया है कि वह कितना यान्त्रिक तथा बुद्धि-प्रधान है। यदि हम कहना चाहे तो कह सकते है कि दोनो दो सभ्यताओं की प्रतीक है। श्रद्धा की ओर कवि की दृष्टि अधिक देखकर यह जान पड़ता है कि कवि आधुनिक सभ्यता (पश्चिमी) या नागरिक सभ्यता से व्यथित है, वह अपनी प्राचीन हृदय-मूलक सभ्यता को अधिक प्यार करता है। इसी प्रकार मनु और मानव के चरित्र भी तुलनात्मक है। मनु मे अहमहमिकता, असमरसता, विलासिता की अधिकता है, परमार्थ, त्याग, दया, सेवा आदि की कमी है। परन्तु मानव अपनी माता श्रद्धा के सिद्धान्त समरसता का अनुयायी है। वह राष्ट्र की सेवा में अपना जीवन उत्सर्ग कर देता है। उसमे विलासिता, स्वार्थ, अहमहमिकता आदि की गन्ध नही है।

ग्रन्थ भर में श्रद्धा और मनु का चरित्र अधिक व्यापक है। अन्य पात्रो के चरित्र को हम एकाङ्गी कह सकते है। कामायनी के चरित्र-चित्रण मे प्रसादजी ने संक्षेप शैली का बहुत अधिक अनुसरण किया है। किसी भी पात्र का कोई कार्य (Action) या संवाद ऐसा नही जिसे हम निरर्थक कह सके। प्रत्येक पात्र महाकाव्य के कार्य में समुचित योग देता है। आरम्भ मे पुरोहित बनते समय किलाताकुलि अनावश्यक भले ही प्रतीत हो, पर रणस्थल मे मनु के विपक्ष मे युद्ध कर उनके निर्वेद के कारण बनते हैं। प्रसादजी के प्रबल पात्रो पर स्थिति का प्रभाव नहीं पड़ता। वे जो सस्कार लेकर आते हैं उन्हीं का विकास उनके जीवन में

होता है। उनमें परिवर्तन नहीं होता। श्रद्धा मे हम यही देखते है। उस पर मनु के समान किसी स्थिति का प्रभाव नहीं पड़ता। मनु के चरित्र द्वारा हिंसा, स्वार्थ, अहमहमिकता तथा विलास की परिस्थिति उत्पन्न होने पर भी उसकी अहिंसा, परमार्थ, त्याग, उदारता और सौमनस्य आदि उदात्त वृत्तियो मे परिवर्तन नहीं होता। मनु निर्बल पात्र है। वह परिस्थितियो का दास है। उसके संस्कारो मे स्थितियो के अनुसार परिवर्तन होता है। आरम्भ में वह विलास से घृणा करता है, किन्तु परिस्थितियो के वश में होकर फिर विलास मे फँसता है। अन्त मे श्रद्धाद्वारा उसका उद्धार होता है।

नाटक, उपन्यास, काव्य सर्वत्र प्रसादजी मे एक ऐसा पात्र आता है जिसका चरित्र दूध का धोया होता है। उसके द्वारा सभी पात्रों का निस्तार होता है। जैसे अजातशत्रु मे मल्लिका, 'तितली' में रामनाथ, उसी प्रकार कामायनी मे श्रद्धा है। यह मनु, इड़ा आदि सभी पात्रो का निस्तार करती है, इतना ही क्यो, वह जड़-जेतन, नभ-वसुधा मे सर्वत्र आनन्द की सृष्टि करती है। उसे हम तरण-तारिणी कहे तो अनुचित नहीं। 'प्रसादजी' की प्रवृत्ति है कि वे सदा प्रबल पात्र का पक्ष लेते है। श्रद्धा का ही पक्ष लेने के कारण उन्होने महाकाव्य का नाम कामायनी रक्खा। शेक्सपियर के समान प्रसादजी अपनी नायिकाओं के चरित्र-चित्रण मे अधिक सतर्क दिखलाई पड़ते है। अस्तु; इनकी नायिकायें भी स्वास्थ्य, सौन्दर्य, विश्वास, प्रेम आदि उदात्त गुणो की प्रतिमा है। प्रसादजी की सभी रचनाओ में प्रेम का सन्देश है अतः उनके सभी पात्र प्रेम का विभिन्न स्वरूप दिखाते है। श्रद्धा मे भारतीय गृहिणी का आदर्श प्रेम है, जिसका सौन्दर्य लोक-जीवन के भीतर ही नहीं प्रत्युत उसके बाहर भी (अलौकिक-जीवन में)

दिखलाई पड़ता है। मनु के द्वारा विलासी प्रेम का चित्र दिखाया गया है।

प्रसादजी चरित्र का विकास पात्रो को घटनाचक्रो मे डालकर परिस्थितियो द्वारा कराते है, क्योंकि *मेरेडिथ के समान उनकी दृष्टि में उस चरित्र का कोई मूल्य नहीं जो परिस्थितियो द्वारा निर्मित नहीं होता। उन्होने श्रद्धा की सेवा, दया, ममता, त्याग, अनुराग, परमार्थ आदि गुणो का विकास परिस्थितियो द्वारा दिखाया है। शील का दिग्दर्शन काव्य मे तभी अच्छा होता है जब पात्रगत एक ही भाव उसमे कई बार दिखाये जायँ। मनु की अहमहमिकता, विलासिता, स्वार्थ भावना का चित्रण कवि ने कामायनी मे कई स्थलो पर किया है। इसी प्रकार श्रद्धा की ममता, माया, त्याग, सेवा आदि के उदाहरण ग्रन्थ मे वार-वार मिलते है। चरित्र-निर्वाह के लिए प्रसादजी ने पात्रो के जीवन मे पूर्वापर सम्बन्ध का यथोचित ध्यान रक्खा है। श्रद्धा मे पहले जैसी करुणा, सेवा, त्याग, समर्पण, दान, उदारता, नि.स्वार्थता आदि की भावना दिखलाई पड़ती है, वही अन्त तक बनी रही। एक बार जब वह कहती है कि सच्चे प्रेम मे देना ही देना है लेना नहीं तो उसका उदाहरण भी अपने जीवन द्वारा सदा प्रस्तुत करती है।

चरित्रो के मार्मिक अंश पर तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नही, क्योकि प्रसादजी ने कामायनी मे सभी पात्रो के केवल महत्त्व-पूर्ण और मार्मिक अश ही को लिया है और उनका सकेतात्मक चित्र खींचा है। कामायनी के चरित्राङ्कण की सबसे प्रमुख विशेषता मनोवैज्ञानिक मनोरमता है। ऐसी मनोवैज्ञानिक मनोज्ञता

---

* And indeed a character that does not wait for circumstances to shape it, is of small worth.

Meredith

कामायनी के अतिरिक्त हिन्दी के किसी भी आधुनिक काव्य में नहीं मिलेगी। इसका प्रमुख कारण यही है कि प्रसादजी ने महाकाव्य में अन्तर्वृत्तियों की व्यञ्जना पर ही विशेष ध्यान रक्खा है। एक परिस्थिति या एक घटना के भीतर अधिक से अधिक कितनी मानववृत्तियाँ जग सकती हैं, उनकी अभिव्यक्ति मे कवि सदा प्रयत्नशील है। स्थल और अवसर के अनुसार पात्रो का प्रवेश नाटकीय ढङ्ग से कराकर कवि ने चरित्र-चित्रण में नाटकीय रमणीयता भी भर दी है। किससे, कब, किस प्रकार, कौनसी बाते करने से क्या परिणाम उत्पन्न हो सकता है, इसे 'प्रसादजी' भली भाँति जानते है। चिन्ता, वासना, श्रद्धा, लज्जा, काम आदि सर्गों में केवल उसी मनोवृत्ति का मनोवैज्ञानिक चित्रण नहीं है, प्रत्युत तत्सम्बन्धी या उसके साथ आनेवाली अन्य अनेक मानव भावनाओं का भी चित्र खींचा गया है। क्योंकि कोई भाव अकेले नहीं आता, उसके साथ अन्य भावनाएँ भी सहकारी रूप में आती है।

लज्जा उत्पन्न होने पर स्त्रियो के शरीर और मन की क्या दशा होती है; यदि इसे जानना हो तो लज्जा नामक सर्ग पढ़ जाइए। लज्जा के समय किस प्रकार मुग्धा स्त्रियो की आँखें नीची हो जाती है; उनसे सामने देखा नहीं जाता; मन मे उन्माद छा जाता है; अन्तर्जगत् मे हलचल मच जाती है, सङ्कोच से शरीर सिकुड़ने लगता है; खुलकर हँसी नहीं आती; अपूर्व सौन्दर्य विकीर्ण होने लगता है—आदि बातो का बड़ा ही सुन्दर वर्णन वहाँ मिलेगा। मानव-मन की विविध वृत्तियो के ऐसे चतुर चितेरे हिन्दी साहित्य मे विरले ही दिखलाई पड़ते है।

चरित्रो की ऐतिहासिकता पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिए। ऐतिहासिक पात्र केवल अतीत का ज्ञान कराता है; परन्तु साहित्यिक (काव्य का) पात्र अतीत घटनाओ का ही ज्ञान नहीं कराता वरन्

वर्तमान काल की गति-विधि समझाने में सहायक बनकर भविष्य की गति की ओर भी इङ्गित करता है। इसी सिद्धान्त का ध्यान रखकर प्रसादजी ने अपने पात्रों को नवयुग की चेतना में स्पन्दित किया है जिससे वे अतीत का ज्ञान कराते हुए साम्प्रत समस्याओं पर भी प्रकाश डालते चलते हैं। इतिहास का सम्बन्ध व्यष्टि से होता है और काव्य का समष्टि से। समष्टि से तात्पर्य यह है कि अमुक प्रकार का व्यक्ति अमुक समय तथा परिस्थितियों में अमुक प्रकार का कार्य कर सकता है। इसी लिए काव्यगत पात्र ऐतिहासिक पात्रों से अधिक सत्य तथा स्थायी होता है। ऐतिहासिक सीता और राम पर किसी को अविश्वास भले ही हो जाय पर तुलसी के सीता-राम की सत्ता तो सभी सिर झुकाकर स्वीकार करते हैं।

पौराणिक श्रद्धा और मनु को लोग भले ही कपोल-कल्पित कहें; पर कामायनी की श्रद्धा और मनु को पढ़कर उनकी सत्ता से भला कौन अविश्वास करेगा? प्रसादजी ने श्रद्धा और मनु का नवनिर्माण नहीं वरन् पुनर्निर्माण किया है; परन्तु उनके पुनर्निर्माण से पात्रों की पौराणिकता नष्ट नहीं हुई है। हरिऔध जी ने तो प्रिय-प्रवास में कृष्ण को इतना आधुनिक बना दिया है कि उनकी पौराणिकता नष्ट हो गई है; पर प्रसादजी ने श्रद्धा, मनु तथा इड़ा में नव युग की चेतना भरकर भी उनकी पौराणिकता मिटने नहीं दी। साकेतकार ने भी राम, लक्ष्मण को उर्मिला के विरह से ढक दिया है परन्तु कामायनी में किसी पौराणिक अप्रसिद्ध पात्र का इतना विशद वर्णन नहीं किया गया कि जिससे प्रसिद्ध पात्रों का व्यक्तित्व ढक जाय। तत्कालीन युग के परम प्रसिद्ध व्यक्ति 'मनु' थे; इसलिए कामायनी में उनके व्यक्तित्व की सबसे अधिक व्याप्ति है। 'पद्मावत' की ऐतिहासिकता को उसकी आध्यात्मिक व्यञ्जना ढक लेती है परन्तु कामायनी

का दार्शनिक पक्ष पात्रों की ऐतिहासिकता को ढकता नहीं, प्रत्युत उनमें सत्यता तथा स्थायित्व लाता है। 'साकेत' में ऐतिहासिकता का अभाव बहुतों को खटकता है परन्तु क्या कोई कह सकता है कि 'कामायनी' मे ऐतिहासिक पक्ष की उपेक्षा की गई है? इतिहास पात्रो के दैनिक या व्यावहारिक जीवन के बारे में प्राय: मौन रहता है, परन्तु जब कवि उन्हे अपने काव्य मे ग्रहण करता है तब वह ऐतिहासिक कल्पना द्वारा उनके मौन जीवन को भी मुखरित कर देता है; परन्तु कवि को ध्यान यही रखना पड़ता है कि वे ऐतिहासिक वातावरण के मेल में हो। पुराणो में श्रद्धा के बारे मे इतना ही मिलता है कि वह मनु की स्त्री थी। उसके अवशिष्ट जीवन को कवि ने अपनी कल्पना द्वारा निर्मित किया है। वातावरण के निर्माण में कवि इतना कुशल है कि उसके पात्र ऐतिहासिकता से बेमेल कहीं नहीं पड़ते।

श्रद्धा

श्रद्धा का चरित्र कामायनी मे अत्यन्त व्यापक है। वह प्रधान पात्र के रूप मे हमारे समक्ष आती है। इसके चरित्र द्वारा प्रसादजी ने भारतीय नारी के सर्वाङ्गीण जीवन का चित्र खींचा है। भारतीय दृष्टि से नारी-जीवन की पूर्णता के लिए लौकिक जीवन के साथ आध्यात्मिक-जीवन भी आवश्यक है। जीवन के ये दोनो पक्ष श्रद्धा में पाये जाते है। उसके लौकिक जीवन को भी हम तीन भागों में बॉट सकते हैं—व्यक्तिगत-जीवन, कौटुम्बिक जीवन तथा सामाजिक जीवन।

वह शरीर से जितनी सुन्दर है हृदय से उतनी ही निर्मल। मानो उसकी शालीनता ही सौन्दर्य के रूप में बाहर विकीर्ण हो रही है। वह 'यथा नाम तथा गुण' को चरितार्थ करनेवाली है। अर्थात् श्रद्धा नाम के अनुसार हृदय की सारी उदात्त वृत्तियों की वह साकार मूर्ति है, नारीत्व की शाश्वत प्रवृत्तियो की प्रतीक है। सेवा उसकी साधना है; कर्म उसका साधन। त्याग उसका सङ्कल्प है, विश्वमङ्गल उसका व्रत। क्षमा उसका निलय है; सहिष्णुता उसका सम्बल। समरसता उसका सिद्धान्त है; परमार्थ उसका सन्तोष। अनुराग उसकी निधि है; करुणा उसका आभूषण। जीवन उसका सरल है पर सिद्धान्त बहुत ऊँचा। हृदय उसका कोमल है पर शरीर स्फूर्ति, दीप्ति तथा शक्ति से पूर्ण। प्रकृति की गोद मे उसका वास है; पर उसका जीवन सुसंस्कृत।

श्रद्धा का व्यक्तिगत जीवन कामायनी मे वहाँ स्पष्ट दिखाई पड़ता है, जहाँ वह मनु की निर्भ्रान्त, निश्चेष्ट, असहाय अवस्था से द्रवित हो करुणा, समर्पण, ममता, विश्वास, अनुराग आदि अपनी हृदय-निधियों को लुटा देती है। मनु के निराश जीवन मे अपने समरसता के सिद्धान्त द्वारा उत्साह पैदा कर उनकी परिश्रान्त चेतना को लोक-कार्य मे व्याप्त करती है; उनकी सहचरी बन उनके दु:ख की आँधी को शान्त करती है; उनके पतझड़ के जीवन मे मधुर मधुमास लाती है; उनके जीवन-मरु की शुष्क घाटियो को सरस बरसात से अभिषिञ्चित करती है; उनके अन्धकारपूर्ण जीवन में उषा के समान प्रकाश लाती है। श्रद्धा की अपूर्व क्षमा का परिचय वहाँ मिलता है; जहाँ वह इड़ा को अपने सुहाग का बाधक समझकर भी क्षमा कर देती है। पद्मावत मे नागमती पद्मावती को अपने सुहाग छीनने का कारण समझ मलिन तथा उदास पड़ जाती है परन्तु श्रद्धा नहीं। उसके हृदय की यह विशालता तथा प्रेम की उच्चता अद्वितीय है। श्रद्धा के जीवन की विभूति है त्याग किन्तु वह वैराग्यजनित नहीं वरन् अनुराग-मण्डित है। इसका सुन्दरतम उदाहरण हमे वहाँ मिलता है जहाँ वह राष्ट्र-कल्याण के लिए अपने इकलौते परम प्रिय पुत्र मानव को सारस्वत प्रदेश मे छोड़कर चली जाती है। इस प्रकार का त्याग नारी-जगत में कम मिलता है। व्यावहारिक जीवन में उसकी मर्यादा, आचार, सयम तथा शिष्टता भी अद्वितीय है। गर्भावस्था मे उससे उद्वेग, बेचैनी तथा व्याकुलता भरी प्रेम की कुशल सूक्तियों को न सुनकर मनु प्रेम की कमी का अनुभव करते है; परन्तु उनकी यह अनुभूति उनके वासनापूर्ण प्रेम की उपज है। वस्तुत: उसके जीवन में शान्ति-सन्तोष का कारण प्रेम की कमी या अभाव नहीं, प्रत्युत प्रेम की पूर्णता तथा परिपक्वता है। अब उसे अपने प्रिय

के स्वकीय होने का पूर्ण विश्वास है; पहले नही था, इसीलिए स्वकीय बनाने के लिए उद्वेग, व्याकुलता तथा अधीरता की आवश्यकता थी। आज भी यदि प्रिय कष्ट मे है तो वह दुखी है। मृगया खेलकर मनु के लौटने मे विलम्ब होने पर वह व्याकुल है। इस सयम का कारण यही है कि श्रद्धा लोक-जीवन का भी ध्यान रखती है। मनु के समान उसका जीवन स्वार्थ या वासना-तृप्ति मे केन्द्रित नही। वह भली भाँति जानती है कि प्रेम की प्रथम अवस्था मे बेचैनी, उत्सुकता, विकलता तथा अधीरता प्रिय-प्राप्ति के लिए होती है। प्रिय का प्राप्ति हो जाने पर तथा उसकी स्वकीयता पर विश्वास हो जाने के उपरान्त भी यदि उत्सुकता, अधीरता और बेचैनी पूर्ववत् बनी रहे तो प्रेमी और प्रिय का जीवन बिताना कठिन हो जाय और वे सर्वदा एक-दूसरे की शुश्रुषा के अतिरिक्त दुनिया के लिए बेकार हो जायँ।

विश्वास की चरम सीमा श्रद्धा के चरित्र में दिखलाई पड़ती है, जो उसके व्यक्तिगत चरित्र को बहुत दिव्य तथा उच्च बना देती है। 'तितली' मे तो मधुबन के प्रति एक बार अविश्वास की हल्की रेखा खिंच जाती है पर श्रद्धा में कभी नहीं। मनु के दूसरी बार भागने पर भी उसके मन मे अविश्वास नही उत्पन्न होता। श्रद्धा को विश्वास है कि मनु उसे पुनः मिल जायँगे—

"वह भोला इतना नहीं छली।
मिल जायेगा हूँ प्रेम-पली॥"

उसके जीवन मे कर्म, ज्ञान तथा इच्छा तीनो का ऐसा सुन्दर समन्वय है कि जिससे वह स्वय आनन्दित रहती है तथा उसके दर्शन मात्र से अन्य भी आनन्द-सागर मे मग्न हो जाते है। पाठको के मन मे यह प्रश्न हो सकता है कि मनु तो पहले उसके साथ ही थे फिर क्यो दुःखी, अतृप्त तथा असन्तुष्ट होकर भागे?

मनु श्रद्धा के साथ रहते हुए भी साथ नहीं थे। उनका प्रेम श्रद्धा के बाह्य सौन्दर्य से था। वे उसकी अमृत-धाम दिव्य आत्मा को पहचान नहीं सके थे। समीप रहने पर भी उनकी दृष्टि अभाग्य से प्याले पर थी, अमृत पर नहीं पड़ी थी। तब भला कैसे अमरत्व का पान करते और आनन्दित होते। परन्तु ज्योंही वे 'कल्याण-भूमि', 'अमृतधाम' श्रद्धा के सत्स्वरूप को पहचान जाते है त्योंही आनन्द मे विभोर हो जाते है और फिर कभी श्रद्धा का साथ नहीं छोड़ते। सचमुच शील-सौन्दर्य की ऐसी दिव्य मूर्ति का दर्शन कर कौन आह्लादित नही होगा।

उसके शील का कुछ विश्लेषण उसकी व्यक्तिगत विशेषताओं के साथ हो चुका है। अवशिष्टांश जातिगत तथा संस्कृतिगत विशेषताओ के साथ किया जायगा। उसके सौन्दर्य को कवि ने 'नित्य-यौवन की छवि से दीप्त कर' जड़ मे स्फूर्ति उत्पन्न करने-वाला बनाकर, 'साकार सौरभ-मधु का आधार तथा पराग-परिमाणु रचित' कहकर अपरिमेय बना दिया है। उसके सौन्दर्य की इस अलौकिकता पर पाठकों को आश्चर्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह काम-गोत्रजा है। इसी अलौकिक सौन्दर्य के कारण वह मनु के नयनो के लिए अभिराम इन्द्रजाल है, किलातकुलि जैसे असुरो को भी तिमिर मे प्रकाश भरनेवाली है।

शास्त्रीय दृष्टि से मुग्धा नायिका के सभी भेदो—प्रथमावतीर्ण-यौवना, मानमृदु, प्रथमावतीर्णमदनविकारा, रतिवामा तथा समधिक लज्जावती के लक्षण श्रद्धा में मिलते है—

"उषा की पहली लेखा कान्त,
माधुरी से भींगी भर मोद"

से व्यक्त होता है कि वह प्रथमावतीर्णयौवना है। पशुहिंसा देखकर श्रद्धा में जो अल्पकालीन मान दिखलाई पड़ता है वह उसकी मान-

मृदु अवस्था को व्यक्त करता है। उसकी प्रथमावतीर्ण मदन विकारा, रतिबामा तथा समधिक लज्जावती अवस्थाएँ क्रमशः 'वासना' 'कर्म' तथा लज्जा नामक सर्ग मे व्यक्त हुई है।

श्रद्धा ने भारतीय आदर्श गृहिणी की भाँति अपनी छोटी गृहस्थी को कर्तव्य-बुद्धि से सुव्यवस्थित बना रक्खा है। उसने अपनी कुञ्जस्थित पर्णकुटीर के ऊपर लताओ को चढ़ा दिया है; उसमें छोटे-छोटे वातायन खोल दिये है और भीतर पुवालो की शय्या बिछा दी है। हमारे यहाँ दायित्व का पूर्ण निर्वाह करनेवाली स्त्रियाँ गृह-लक्ष्मी कही जाती है। श्रद्धा सचमुच गृह-लक्ष्मी है। उसके गृह-विधान को देखकर मनु चकित होकर उसे गृह-लक्ष्मी कहे विना नहीं रहते। गृहस्थी मे भविष्य की चिन्ता स्त्री को पुरुप से अधिक होती है। श्रद्धा ने भविष्य के लिए ही शालियो का बीज संग्रह कर लिया है; भावी पुत्र के लिए वेतसी का झूला अभी से वना रक्खा है। कौटुम्बिक-जीवन मे उसी व्यक्ति को वास्तविक सुख मिलता है जो दूसरो के दोषो को सहन कर अपना व्यवहार अच्छा बनाये रखता है; श्रद्धा का कौटुम्बिक जीवन ऐसा ही है। मनु मे अनेक दोष रहते हुए भी वह उनके प्रति सदा अच्छा व्यवहार बनाये रखती है। मनु की उदासीनता या अवमानना से अपने प्रेम मे कभी कमी नहीं करती। मातृत्व की अन्तिम सीमा है वात्सल्य। श्रद्धा के वात्सल्य प्रेम की उच्चता को देख मनु ने स्वय उसे वत्सलता की मूर्ति कहा है।

कौटुम्बिक जीवन से ही उसका आत्म-विस्तार वढ़ने लगता है। उसका प्रेम सजातीय मानव तक ही सीमित नही प्रत्युत वह पशु तक भी पहुँच जाता है। वढ़ते-वढ़ते उसका आत्म-विस्तार इतना अधिक हो जाता है कि वह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' समझने लगती है। तभी तो राष्ट्र (सारस्वत-प्रदेश) के कल्याणार्थ अपने इकलौते पुत्र

मानव को त्यागने में तनिक भी मोह नहीं करती। यहीं उसके गृहस्थ जीवन का अन्त समझना चाहिए। इसके पश्चात् उसका आध्यात्मिक (वानप्रस्थ और संन्यास) जीवन आरम्भ होता है। परम्परानुसार श्रद्धा वानप्रस्थ की युग्मता के लिए अपने खोये हुए पति को पुनः प्राप्त कर लेती है। मनु को साथ लेकर हिमालय-प्रदेश के कैलास-लोक में अपना आश्रम बनाकर पति के सङ्ग आध्यात्मिक-जीवन बिताती है।

श्रद्धा नारीत्व की पूर्ण विकास है। नारी का यथार्थ धर्म शुद्ध शृङ्गार है जो श्रद्धा के जीवन में अपरिमेय मात्रा में है। मातृत्व ही नारी का चरम विकास है। विश्व के प्रति मङ्गलमयी भावना, निर्माण शक्ति, सिसृक्षा, प्राणिमात्र के प्रति करुणा आदि मातृत्व के प्रधान गुण श्रद्धा मे पर्याप्त मात्रा मे वर्तमान हैं। नारी मे माता बनने की सहज भावना विद्यमान रहती है जो अवसर पाकर स्वयमेव जग जाती है। सन्ध्या समय विहगगण नीड़ो में अपने शिशुओं को चूम रहे हैं, इस दृश्य को देखकर श्रद्धा को शिशु के अभाव मे अपने घर का सूनापन खटकता है और उसके माँ बनने की साध तुरत बोल उठती है—

"उनके घर मे कोलाहल है,
मेरा सूना है गुफा द्वार।"

वह किसी भी परिस्थिति में अपने मातृत्व को नहीं भूलती। उसका वात्सल्यमय जननी-रूप सदा सजग रहता है। वह अपने लिए नहीं प्रत्युत दूसरो के लिए इस विश्व की रङ्गभूमि मे आई है। उसके जीवन का प्रत्येक श्वास अपना नहीं, पराया है।

श्रद्धा के जातिगत स्वभाव का सच्चा दिग्दर्शन उस समय मिलता है जब वह नारी-हृदय की सारी निधियाँ प्रेम, सेवा, दया, त्याग, माया, ममता, विश्वास, समर्पण आदि मनु के चरणों मे

उनके अवसादपूर्ण जीवन से द्रवित होकर उत्सर्ग कर देती है। श्रद्धा के इस आत्म-समर्पण द्वारा कवि ने दिखाया है कि नारी-हृदय का साधनापथ समर्पण की आनन्दानुभूति में ही है। नारी सदा लुट जाना चाहती है। उसमे जिगीषा की भावना नही प्रत्युत बलिदान की भावना रहती है। वह सत्व तथा अधिकार की भूखी नहीं। वह तो अपनी सत्ता के लय करने मे ही चरम सुख मानती है। नारी-हृदय की सार्वभौमिक सहानुभूति के कारण उसकी करुणा का प्रसार मनुष्य, पशु, चेतन, अचेतन सर्वत्र है। श्रद्धा का ललित कला का अभ्यास तथा सङ्गीत-प्रियता भी उसके जातिगत स्वभाव के ही अन्तर्गत है।

पुरुषो के सारे कुतूहल तथा प्रश्नो का उत्तर देना, विश्लेषण करना, स्त्री-चरित्र की विशेषता है। मनु के प्रति श्रद्धा ऐसा ही करती है। श्रद्धा की विश्लेषण-वृत्ति स्त्री-जन-सुलभ विशेषता है। नारी हृदय की वास्तविक सम्पत्ति है प्रेम; और वह श्रद्धा में अपरिमेय मात्रा मे है।

अब श्रद्धा की आर्य-सस्कृतिगत विशेषताओ पर भी विचार कर लेना चाहिए। हमारे यहाँ स्वयंवर-प्रथा बहुत प्राचीन है। अतएव कामायनी में श्रद्धा के स्वयंवर का उल्लेख पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव-रूप मे नही समझना चाहिए। भारतीय संस्कृति मे नारी प्रथम प्रस्ताव करती है, वही श्रद्धा ने भी किया। उसके रीझने मे वासना की गन्ध नहीं प्रत्युत भारतीय वीर-पूजा की भावना निहित है। भारतीय स्त्रियो की सस्कृति के अनुसार श्रद्धा के प्रेम का द्योतन स्त्री-जाति के स्वभावगत लज्जा द्वारा होता है।

तुलसीदास ने पतिव्रता स्त्रियो के चार भेद बतलाये है। "उत्तम के अस बस जग माहीं—सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं" के अनुसार श्रद्धा को उत्तम पतिव्रता स्त्री का पद प्राप्त होना चाहिए,

क्योंकि वह स्वप्न में भी अन्य पुरुष को नहीं देखती। मनु का ही ध्यान करती है, जैसा कि 'स्वप्न' सर्ग से विदित हो रहा है। ऋग्वेद तथा पुराणों में श्रद्धा 'कामगोत्रजा' तथा मनु की पत्नी के रूप में आती है। इससे अधिक इसका वृत्तान्त कहीं नहीं मिलता। श्रद्धा का भावात्मक जीवन कवि ने प्रतीक बैठाने के लिए शैवागमो से लिया है। उसका व्यावहारिक तथा दैनिक-जीवन कवि की निजी सृष्टि है। श्रद्धा का अहिंसा-व्रती होना तथा तकली पर सूत कातना गान्धी-युग की देन है।

मनु

काव्य का केन्द्र मनु के चरित्र मे निहित है। शास्त्रीय दृष्टि से अमर सन्तान होने के कारण वे नायक बनने योग्य है। उनमे धीरललित नायक का गुण वर्तमान है। मनु के द्वारा कवि ने आदि युग के मनुष्य का चित्र खींचा है। उस युग के मानव मे जितनी स्वाभाविकता हो सकती थी उतनी मनु मे है। मनु के चरित्र पर विचार करते समय आधुनिक आचार का आदर्श सामने नहीं रखना चाहिए क्योंकि उस युग का आदर्श कुछ दूसरा ही था। मनुष्य मे उस समय निर्बाध आत्म-तृप्ति की भावना प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी। उस समय की प्रथा से आज की प्रथा मे बहुत अन्तर हो गया है। मानव अपनी प्रवृत्ति तथा प्रकृति पर विजय प्राप्त कर सुसंस्कृत हो गया है। अस्तु, सुसस्कृत आचार की कसौटी पर मनु का चरित्र जॉचना न्याय-पथ से विचलित होना है। मनु के चरित्र पर विचार करते समय हमे यही देखना चाहिए कि उस समय मानव जैसा था वैसे मनु हैं या नहीं?

कामायनी के मनु के चरित्र को हम दो भागो में बॉट सकते हैं—शरीरी अवस्था तथा अशरीरी। शरीरी अवस्था का वर्णन कामायनी में बहुत व्यापक है क्योंकि उस समय मानव मे शरीर-पक्ष की अधिक प्रधानता थी। शरीरी अवस्था के अन्तर्गत मनु मे विलासिता, आत्ममोह, ममत्व, स्वार्थपरायणता, अहंभावना, आसक्ति आदि वृत्तियॉ दिखाई पड़ती हैं। उनमे शरीर पक्ष की इतनी अधिक प्रधानता हो गई है कि वे अपने आगे अपने ही पुत्र

की उपेक्षा करते हैं। अशरीरी अवस्था वहाँ प्रारम्भ होती है जहाँ मनु को पितृत्व का ज्ञान हो जाता है और वात्सल्य-भाव से उनका हृदय भर जाता है। इस समय वे अपने शरीर से अलग होकर अपने पुत्र का ध्यान करने लगते है।

"सुनता था वह वाणी शीतल,
कितना दुलार कितना निर्मल।"

मनु के वात्सल्य,पूर्ण होने पर पति-पत्नी दोनों की आत्माये मिलकर एकाकार हो जाती है। वस्तुतः माँ होने पर नारी पुरुष से तभी रीझती है जब वह (पति) बच्चे को उसी के समान प्यार करने लगता है। गृहस्थी की यही पूर्णता है और तभी गृहस्थ के कल्याण का पथ खुलता है। श्रद्धा माँ हो चुकी थी परन्तु मनु विलासिता मे रमण कर रहे थे। इसलिए जब तक वे विलासिता के नद में डूबे रहे तब तक उन्हे गृहस्थी का सुख नहीं मिला और वे मिथ्या सुख की मरीचिका मे मृग के समान भटकते रहे। कवि ने यहाँ मनु के चरित्र द्वारा बतलाया है कि श्रद्धा ऐसी पतिव्रता स्त्री की जो पुरुष उपेक्षा करेगा, उसे जीवन में मनु के समान ही भटकना पड़ेगा और अन्त मे जब वह मनु के समान, नारी को अपनायेगा तभी उसके जीवन का आनन्दपूर्ण पथ मिलेगा। मनु के हृदय में विश्वपिता की भावना—पुत्रप्रेम, कुटुम्ब-स्नेह—होने के पश्चात् ही उत्पन्न होती है। तभी तो वे श्रद्धा द्वारा यह जानकर भी कि उनका पुत्र राष्ट्र-कल्याण के लिए सारस्व-तप्रदेश मे छोड़ दिया गया है—व्याकुल नहीं होते। यहाँ पर मनु के चरित्र से कवि ने बतलाया है कि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की सीढ़ी कुटुम्ब-स्नेह स ही प्रारम्भ होती है।

अब इड़ा-सम्बन्धी मनु पर विचार करना चाहिए। अतृप्त-वासना वाले मनु जैसे विलासी का निर्जन प्रदेश में इड़ा जैसी नयन-

महोत्सव की प्रतीक, सुन्दर बाला को देखकर उसकी ओर खिंच जाना स्वाभाविक है। तदनन्तर मनु का इड़ा के ऊपर नियन्त्रित प्रेम तथा परिणय की इच्छा करना भी प्राकृतिक है क्योंकि वे अनियन्त्रित प्रेम का दुष्परिणाम श्रद्धा के साथ भोग चुके थे। जब इड़ा राष्ट्र की मर्यादा बचाने के लिए उनके बद्ध-परिणय के प्रस्ताव को नहीं स्वीकार करती तब वे उसे बलात् अपनी रानी बनाना चाहते है। मर्यादा उल्लङ्घन के कारण परिणाम घोर सङ्घर्ष तथा विप्लव के रूप मे दिखाई पड़ता है। मनु के इड़ा तथा श्रद्धा दोनों सम्बन्धो द्वारा कवि ने दिखाया है कि नारी के साथ सहयोग करने से ही मानव सुखी हो सकता है। इसी अभाव मे मनु को न तो श्रद्धा से तृप्ति मिली न इड़ा से।

इतिहास की ओर दृष्टि न डालनेवालों को मनु के प्रारम्भिक चरित्र की कुछ बाते—जैसे श्रद्धा के पुत्र-प्रेम से ईर्ष्या, वासना की अधिकता, सारस्वत प्रदेश की निरकुशता—खटक सकती है। सृष्टि के आरम्भिक उपादानों के समावेश के आग्रह के कारण कवि को मनु मे स्त्री के पुत्र-प्रेम पर ईर्ष्या की कल्पना करनी पड़ी। मनु सृष्टि के आदि-पुरुष है। उस समय मानव मे शरीरी पक्ष प्रधान था। ईर्ष्या, वासना आदि स्वाभाविक वृत्तियॉ मानव मे प्रचुर मात्रा मे थीं। यथार्थवाद का आग्रह मनु का यही स्वरूप निर्दिष्ट कर सकता है। दुर्ललित वासना, आत्म-मोह, निर्बाध आत्म-तृप्ति आदि तत्त्व देव-सृष्टि के संस्कार हैं। इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि से इनके प्रभाव की उपेक्षा मनु के चरित्र मे नही की जा सकती थी। पौराणिक प्रसङ्गो से भी इनकी सङ्गति बैठ जाती है, ब्रह्मा का अपनी पुत्री की ओर आकर्षित होना पुराणो में प्रसिद्ध ही है। इसी आधार पर मनु का इड़ा की ओर आकर्षित होना कल्पित है। सारस्वत प्रदेश मे मनु की निरकुशता भी ऐतिहासिक तथ्य के

अविरुद्ध ही है। सृष्टि के प्रारम्भ-काल में मातृसत्ता के पश्चात् सामन्त-प्रथा का ही उदाहरण मिलता है। सामन्त-युग में व्यक्ति-वाद का प्राबल्य था। शासक स्वेच्छाचारी होते थे। इसलिए मनु नियामक होते हुए भी नियम का पालन नहीं करते। मनु के शासन से प्रजा धन-धान्य से पूर्ण है। कला-कौशल भी समृद्धि-शालिनी स्थिति मे है। मनु की निरंकुशता एवं स्वच्छन्दता प्रजा को सह्य नहीं। अतः सारस्वत प्रदेश मे विद्रोह की आग भड़क उठी। इस विद्रोह मे वर्तमान क्रान्तिकारी युग का स्वर मन्द-मन्द सुनाई पड़ता है। किलाताकुलि की प्रेरणा से मनु ने हिंसा-पूर्ण पशु-यज्ञ किया। मृगया खेलने का भी उन्हे बहुत चाव है। निरीह पशुओं की हिंसा करने की भावना मनु मे सृष्टि के उस आरम्भिक हिंसकवृत्ति को स्पष्ट करनेवाली है जब मानव जङ्गल मे रहता था, मृगया उसकी जीविका का साधन था।

महाकाव्य के आरम्भ से ही मनु के चरित्र में द्वन्द्व का अच्छा चित्रण है। इस द्वन्द्व की चरम सीमा इड़ा सर्ग मे दिखलाई पड़ती है। निर्बाध वासना की तृप्ति के लिए मनुश्रद्धा को छोड़ सरस्वती-तट पर पहुँच आए है। उनके हृदय मे श्रद्धा के पास लौट जाने तथा आगे सारस्वत प्रदेश में बढ़ने का द्वन्द्व मचा हुआ है—

"वासना-तृप्ति ही स्वर्ग बनी,
यह उलटी मति का व्यर्थ ज्ञान।

× × × ×

कुछ मेरा हो यह राग भाव,
संकुचित पूर्णता है अजान।
हाँ जलन वासना को जीवन भ्रम,
तम में पहला स्थान दिया॥"

मनु जीवन के इस भ्रम से अभी मुक्त नहीं हुए है कि उस एकान्त प्रदेश मे नयन-महोत्सव की प्रतीक सुन्दर बाला इड़ा आ जाती है और मनु को 'हाँ तुम ही हो अपने सहाय' कहकर अपना उजड़ा घर बसाने का प्रस्ताव करती है। मानव परिस्थितियों का दास तो है ही; मनु जिस वासनापूर्ण जीवन की अभी निन्दा कर रहे थे उसी मे पुन: फँस जाते है। इस प्रकार मनु विपम परिस्थितियो से आक्रान्त होते हुए अन्त मे श्रद्धा द्वारा आनन्द को प्राप्त होते है। इस प्रकार कवि ने मनु के चरित्र द्वारा महाकाव्य मे साधनावस्था का प्रवेश कराया है। मनु के जीवन मे वासना की अधिकता, भोग की ओर प्रवृत्ति, ईर्ष्या, दम्भ, अहमहमिकता, ममत्व आदि का प्रदर्शन उनको मन के प्रतीक रूप मे उपस्थित करने के लिए किया गया है। नहीं तो जहाँ तक मनु मानवरूप मे उपस्थित किये गये हैं, वहाँ तक उनमे दया, स्पष्टता, अपने अपराधो पर ग्लानि आदि मानव-गुण उनमे वर्तमान हैं।

प्रलय से बचे किसी प्राणी के लिए अन्न रख आना उनकी दया का परिचायक है। मुमूर्षु मनु रणस्थल में श्रद्धा को अकस्मात् देखकर अपने अपराध पर इतनी अधिक ग्लानि से भर जाते हैं कि उनको श्रद्धा के सामने मुँह दिखाना कठिन हो जाता है, और वे उसी रात को वहाँ से भाग जाते है।

साहसिकता, वीरता, परुषता, स्वतन्त्रता, स्वच्छन्दप्रियता स्वायत्त की चाह, विजय की इच्छा, प्रतिशोध की भावना, शासन करने, नियामक बनने की प्रवृत्ति आदि मनु की जातिगत विशेषताएँ है। स्वतन्त्रता या स्वच्छन्द प्रवृत्ति तो आदि से अन्त तक उनमें दिखलाई पड़ती है। वे श्रद्धा या इड़ा किसी के पास भी शासित होना सहन नहीं कर सकते। स्वायत्त की चाह तो उनमे सर्वत्र बनी हुई है। सारस्वत प्रदेश को सम्पूर्ण विद्रोही

प्रजा से युद्ध करना उनकी वीरता, निर्भीकता, प्रतिशोध-वृत्ति का परिणाम है—

"वह प्रतिशोध अधीर रक्त बन बहता पानी।"

मनु के चरित्र मे कवि ने यथार्थवाद का बहुत ही सुन्दर पुट दिया है। उनके चरित्र मे उत्थान तथा पतन दोनो हैं। जातिगत तथा व्यक्तिगत दोनो विशेषताएँ है। पतन मे चरम यथार्थवाद का स्वरूप है। उत्थान केवल अन्त मे दिखाया गया है। उत्थान की व्यञ्जना सदाचारमूलक है। एक ओर उनकी जातिगत विशेषताएँ उनके यथार्थवादी रूप को व्यक्त करती है तथा दूसरी ओर उनकी व्यक्तिगत विशेषताएँ उनके प्रतीकवादी रूप को व्यञ्जित करती है। मनु मानव-परम्परा के पिता है अतः उनमें मानव के सभी गुण-अवगुण वर्तमान है। मनुष्य में सत्-असत्, भली-बुरी तथा मानव-दानव, दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ रहती है। परिस्थिति-विशेष के कारण कभी किसी का प्राधान्य हो जाता है, कभी किसी का। यही मनु में है। वे परिस्थितियो के अनुसार कहीं बहुत भावुक- कहीं बहुत तार्किक, कहीं बहुत विलासी—कहीं बहुत विरक्त, कहीं स्नेहशील – कहीं निर्मम, कहीं परुष—कहीं उदार, कभी चिन्ताशील—कभी आशान्वित दिखाई पड़ते है।

———

इड़ा

इड़ा का चरित्र जहाँ तक स्त्री रूप मे है वहाँ तक नीति, मर्यादा, उत्तरदायित्व, कर्तव्यबुद्धि, रागवृत्ति, समर्पण की भावना, क्षमा, सहनशीलता, व्यवस्था-शक्ति आदि स्त्रियोचित गुणो से युक्त दिखलाई पड़ता है। परन्तु जहाँ वह बुद्धि के प्रतीक रूप में आई है वहाँ चञ्चलता, संघर्ष, विप्लव, विद्रोह उत्पन्न करती हुई दिखलाई पडती है। स्त्री रूप मे वह मनु से प्रेम करती है; परन्तु उनके समान मर्यादा को त्यागकर नहीं, कर्तव्य-बुद्धि से रहित होकर नहीं, उत्तरदायित्व की उपेक्षा करके नहीं। उसके मनु सम्बन्धी प्रेम से केवल उसकी रागवृत्ति की भावना ज्ञात होती है। सिद्धान्त दृढ़ता उसमे इतनी अधिक है कि उसका उल्लङ्घन उसके प्रिय से प्रिय व्यक्ति द्वारा होने पर भी उसका विरोध करती है, जैसा मनु के साथ मे उसने किया। मनु प्रजा के लिए नियम बनाते हैं परन्तु स्वयं उसका पालन नहीं करते, वे निर्बाधित अधिकार भोगना चाहते है। इड़ा उन्हे दो-एक बार समझाती है—

> "आह प्रजापति यह न हुआ है;
> कभी न होगा।
> निर्बाधित अधिकार आज तक—
> किसने भोगा॥"

इड़ा के द्वारा समझाने पर भी मनु जब नहीं मानते तब वह उनके विरुद्ध प्रजा द्वारा घोर विद्रोह कराकर युद्ध करती है।

मनु का प्रेम लोक-धर्म का तिरस्कार करनेवाला नितान्त ऐकान्तिक है, परन्तु इड़ा लोक-धर्म के पालन मे पूर्ण सतर्क तथा सावधान दिखाई पड़ती है। मनु के जिस परिणय से लोक-धर्म, लोकनीति, मर्यादा में विघ्न पड़ने की आशङ्का है, उसको उनके द्वारा कई बार बलात्कार करने पर भी वह स्वीकार नहीं करती, परन्तु लोक-कल्याण करनेवाले श्रद्धा द्वारा प्रस्तावित मानव-परिणय को स्वीकार कर लेती है।

स्त्रियो में व्यवस्था-बुद्धि पुरुषों से अधिक होती है वह इड़ा मे भी है। उसकी ही सुव्यवस्था, राष्ट्रनीति का परिणाम है कि उसकी प्रजा धन, धान्य से पूर्ण है, कला-कौशल, व्यापार आदि में भी समृद्धशाली है। "मनु की सतत सफलता की वह उदय विजयिनी तारा थी।" मनु तो उससे सदा प्रणय तथा परिणय की बाते करते है पर वह सदा मनु को लोक-धर्म की शिक्षा देती है—

> ताल-ताल पर चलो नहीं लय छूटे जिसमें,
> तुम न विवादी स्वर छेड़ो इसमे।
> लोक सुखी हो आश्रय ले यदि उस छाया में,
> प्राण सदृश ही रमो राष्ट्र की इस काया मे ॥

इड़ा मे सहनशीलता तथा क्षमा-गुण भी वर्तमान है। वह मनु-कृत बलात्कार को कई बार सहन कर लेती है। मनु जब किसी तरह नहीं मानते तब उसे राष्ट्र-कल्याणार्थ विद्रोह करना पड़ता है। रण-स्थल मे मनु मुमूर्षावस्था मे एकाकी पड़े है, वहाँ भी उनकी सेवा करते इड़ा ही दिखाई पड़ती है। इस प्रकार वह एक ओर मनु से विद्रोह करके राष्ट्र-कल्याण, लोक-धर्म का पालन करती है, दूसरी ओर मुमूर्षावस्था में मनु की सेवा कर अपनी

व्यक्तिगत शालीनता का परिचय देती है। रण-स्थल में ही श्रद्धा अपने कुमार को लिये आ पहुँचती हैं। इड़ा अपने को श्रद्धा का सुहाग छीनने का कारण समझ ग्लानि से भर जाती है और उससे क्षमा माँगती है, मानो बुद्धि हृदय के ऊपर किये गये अत्याचारो को स्वीकार करती हुई उससे क्षमा-याचना कर रही है।

"तिसपर मैंने छीना सुहाग,
हे देवि! तुम्हारा दिव्य राग।
× × × ×
दो क्षमा, न दो अपना विराग,
सोई चेतनता न उठे जाग॥"

इड़ा भी ऐतिहासिक पात्र है। वह मनु के सारस्वत नगर पहुँचने के पूर्व राष्ट्र-प्रतिनिधि के रूप मे मानव इतिहास के आदि युग—मातृसत्ता-युग—को उपस्थित करती है। यह मानव इतिहास का वह युग था जब मातृ-शक्ति की प्रधानता थी। प्रबन्ध का भार नारी पर था। इस युग मे साम्यवाद का आदिम स्वरूप दिखाई पड़ता है। इड़ा के शासन-काल मे सारस्वत-प्रदेश मे साम्यवाद का ही स्वरूप रहा होगा; क्योकि मनु के पहुँचने के पूर्व वहाँ वर्ग, जाति आदि का निर्माण नहीं हुआ था। धनी-निर्धन, ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं था। शासन का स्वरूप लोकतन्त्र रूप में था। इड़ा राष्ट्र-प्रतिनिधि थी। उसके शासन-काल मे सब लोग धन-धान्य से पूर्ण तथा सुखी थे।

वेद मे इड़ा के ऊपर पूरा एक सूक्त ही मिलता है। वहाँ भी वह ज्ञानपक्ष के प्रतीक रूप मे वर्णित है। पुराणों में मनु की कन्या के रूप मे तथा शतपथ ब्राह्मण में मनु की पालित कन्या के

रूप मे दिखाई पड़ती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कामायनी मे इड़ा मनु की कन्या के रूप मे नहीं आती। कामायनी मे मनु का इड़ा की ओर आकर्षित होना कवि की निजी कल्पना है। हो सकता है कि यह घटना किसी दूसरी पौराणिक घटना के आधार पर निर्मित की गई हो। इड़ा का वैदिक स्वरूप कामायनी मे मिलता है अर्थात् ऋग्वेद के आधार पर ही प्रसाद ने इड़ा को बुद्धिवाद के प्रतीक रूप मे रक्खा है। पार्जिटर के कथनानुसार ऐतिहासिक दृष्टि से इड़ा का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि इड़ा के पुत्र पुरूरवा से आगे चलकर यदुवंश तथा चन्द्रवंश की उत्पत्ति हुई। कवि इतिहास लिखने तो बैठा नहीं था कि इन सभी वृत्तान्तो का लेखा-जोखा करता। हॉ, यह बात अवश्य है कि काव्य की साध्य-प्राप्ति के साथ-साथ इन चरित्रो की ऐतिहासिक महत्ता भी प्रतिपादित हो गई है।

भाषा तथा भावाभिव्यक्ति

काव्य की भाषा केवल अर्थ-बोध कराने के लिए नहीं होती, वह भावोन्मेष के साथ-साथ चमत्कारपूर्ण अनुरञ्जन भी कराती है। अन्य वाङ्मयों—विज्ञान, ज्योतिष, दर्शन आदि—की भाषा नियत अर्थ के अतिरिक्त कोई अन्य अर्थ व्यक्त नहीं करती, परन्तु कवि की वाणी जितने अधिक से अधिक अर्थों की व्यञ्जना करेगी, उतने ही उत्कर्ष को प्राप्त होगी। नियत अर्थ तक पहुँचने के लिए अन्य वाङ्मय अभिधा शक्ति से ही काम लेते है, किन्तु काव्य प्रस्तुत के अतिरिक्त अन्य अर्थों की व्यञ्जना के लिए अभिधा के अतिरिक्त लक्षणा और व्यञ्जना का अधिक सहारा लेता है। कविता की भाषा कलामय होती है परन्तु विज्ञान की कलाहीन। भाषा शैली का प्रधान उपकरण ही नहीं; कवि के परम साध्य भावाभिव्यञ्जन का प्रधान साधन भी है। वह शैली का ही सौन्दर्य-वर्द्धन नहीं करती, भाव-सौन्दर्य भी बढ़ाती है। अतएव किसी भी कवि का काव्य-सौन्दर्य दिखाते समय उसकी भाषा का विवेचन करना परम आवश्यक है।

भावाभिव्यञ्जन की दृष्टि से भाषा के दो पक्ष होते है—सांकेतिक तथा बिम्ब-विधायक। एक में भाषा अर्थ-बोध कराती है, दूसरे में बिम्बग्रहण। वर्णन मे सच्चे कवि द्वितीय पक्ष का ही अधिक प्रयोग करते है। कामायनी मे इसी दूसरे पक्ष का अधिक अवलम्बन किया गया है। भाषा की चित्रमयता मे प्रसादजी की

तुलना अँगरेज़ी के प्रसिद्ध कवि रोज़ेटी से की जा सकती है। कामायनी की भाषा में तीन प्रकार के चित्र मिलते हैं—शब्दचित्र, वस्तुचित्र तथा भावचित्र।

शब्दचित्र इस काव्य में स्थान स्थान पर मिलते है। 'अरी आँधियो। ओ बिजली की दिवारात्रि तेरा नर्तन'। 'बिजली की दिवारात्रि' मे चित्रोपमता की पराकाष्ठा है। वस्तुचित्रो के उदाहरण प्रायः रूप-वर्णन या प्रकृति-वर्णन में मिलते है। स्मरण रखना चाहिए कि प्रसादजी ने वस्तु-चित्रो के अङ्कन में व्यञ्जनात्मक शैली से अधिक काम लिया है। वे किसी वस्तु के मार्मिक अंश का चित्र इस प्रकार खड़ा करते हैं कि व्यञ्जना द्वारा उसका अवशिष्ट अश पूरा हो जाता है।

धवल मनोहर चन्द्रबिम्ब से,
अङ्कित सुन्दर स्वच्छ निशीथ।
जिसमे शीतल पवन गा रहा,
पुलकित हो पावन उद्गीथ।

उपर्युक्त छन्द में कवि ने पवन के पावन उद्गीथ द्वारा मनु के पावन आश्रम यज्ञ, सामगान मन्त्र आदि की व्यञ्जना करा दी है। ऐसी व्यञ्जनाएँ साधारण बुद्धिवालो के लिए कठिन हो सकती है; पर इसमें जो काव्यत्व भरा है वह किसी सहृदय से छिपा नहीं। कामायनी के भावचित्रों की रमणीयता, प्रभविष्णुता तथा विस्तार वस्तुचित्रों से उत्कृष्ट है। भावो को मूर्त रूप देने मे कवि ने लक्षणा-शक्ति का अधिक आश्रय लिया है, जिससे भाव सुग्राह्य होकर हृदय से अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेते है। चिन्ता नामक भाव का एक चित्र देखिए :—

हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा!
हरी भरी-सी दौड़ धूप ओ,
जलमाला की चल रेखा!

अब भाषा की चित्रमयता के प्रधान साधन लक्षणा पर विचार करना चाहिए। भिन्न-भिन्न दृष्टियो से लक्षणा के भिन्न-भिन्न भेद किये गये हैं। सर्वप्रथम रूढ़ अर्थ और प्रयोजन प्राप्त अर्थ की दृष्टि से लक्षणा के दो भेद हुए—रूढ़िवती तथा प्रयोजनवती। सादृश्य तथा असादृश्य के आधार पर प्रयोजनवती के गौणी तथा शुद्धा दो भेद हुए। फिर मुख्य अर्थ ग्रहण तथा त्याग, आरोप एवं अध्यवसान की दृष्टि से इन दोनो के उपादान, लक्षणलक्षणा, सारोपा, साध्यवसाना भेद हुए। आधुनिक कवियो की लक्षणाएँ प्राय: ऐसी होती है जिनमे किसी प्रकार का सादृश्य सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् आजकल शुद्धा लक्षणा की प्रधानता काव्यक्षेत्र मे दिखलाई पड़ती है। पर उत्तम कोटि की लक्षणा गौणी ही होती है क्योकि इससे स्वरूप-बोध मे सहायता मिलती है। यद्यपि आधुनिक प्रवृत्ति के अनुसार कामायनी में शुद्धा की ही प्रधानता है पर गौणी के भी उदाहरण पर्याप्त मात्रा मे मिलते है। अब इनमें से प्रत्येक का एक-एक उदाहरण लीजिए और देखिए कि उनसे किस प्रकार भाषा मे चित्रमयता, अर्थवृद्धि तथा चमत्कार आदि गुण उत्पन्न हो गए है। सबसे पहल प्रयोजनवती लक्षणाओं का उदाहरण देखिए—

पगली हाँ सम्हाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अञ्चल।
देख बिखरती है मणिराजी
अरी उठा वेसुध चञ्चल॥

उपर्युक्त छन्द में साध्यवसाना गौणी लक्षणा का कैसा सुन्दर प्रयोग है। यहाँ 'पगली' शब्द रात्रि के लिए, 'अञ्चल' आकाश के लिए और 'मणिराजी' ताराओ के लिए प्रयुक्त है। केवल अप्रस्तुतो द्वारा ही प्रस्तुत का संकेत किया गया है। प्रस्तुत का यह अध्यव-सान गुण-साधर्म्य के कारण है। इस प्रकार रूपकातिशयोक्ति मे साध्यवसाना पाई जाती है। इस लक्षणा द्वारा चमत्कार की सृष्टि अधिक होती है। सारोपा गौणी का एक उदाहरण लीजिए—

सिन्धु सेज पर धरा वधू अब
तनिक संकुचित बैठी-सी।
प्रलय-निशा की हलचल स्मृति मे
मान किये-सी ऐंठी-सी॥

रूपक अलङ्कार मे सारोपा का प्रयोग मिलता है। सारोपा गौणी मे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में साधर्म्य मिलना चाहिए। उपर्युक्त उदाहरण में उपमेय 'धरा' और उपमान 'वधू' का साधर्म्य बहुत स्पष्ट है। शुद्धा उपादानलक्षणा का उदाहरण लीजिए—

लोक सुखी हो आश्रय ले यदि उस छाया मे।
प्राण-सदृश तुम रमो राष्ट्र की इस काया में॥

राष्ट्र की काया मे शुद्धा उपादानलक्षणा है। यहाँ दूसरा अर्थ आने पर भी मुख्य अर्थ का बिल्कुल बाध नहीं है। लक्षण लक्षणा का उदाहरण—

'प्रगतिशील मन रुका एक क्षण करवट लेकर।'

मन के लिए करवट लेना सम्भव नहीं इसलिए मुख्य अर्थ का बिल्कुल बाध है। यहाँ मन के करवट लेने का अर्थ है मन का बद-लना। इस अर्थ की सिद्धि के लिए वाच्य अर्थ छोड़ दिया गया है।

रूढ़ि लक्षणा का उदाहरण प्रायः मुहावरो के अन्तर्गत मिलता है। मुहावरो का प्रयोग भी सर्वप्रथम किसी न किसी प्रयोजन को ही लेकर चलता है। बहुत दिनों तक बराबर प्रयोग मे आने से उनका प्रयोजन लोगो को भूल जाता है। केवल रूढ़ि नहीं मिटती। रूढ़ि-लक्षणा का उदाहरण कामायनी में प्रयुक्त मुहावरो के भीतर सर्वत्र मिलता है। अस्तु, उनके उदाहरण प्रस्तुत करने की कोई आवश्यकता नहीं। किसी अमूर्त उपमेय को मूर्त उपमान द्वारा गोचर करने में जहाँ प्रसाद की चेष्टा स्तुत्य है वहीं मूर्त उपमेय को भाव रूप मे खड़ा करने मे उनका प्रयत्न दर्शनीय है। उपमान कथन मे सर्वत्र लाक्षणिकता तथा अतिशयोक्ति रहने से कथन के तत्त्वबोध में कृत्रिमता अवश्य आ गई है, परन्तु भाव-जगत् में कथन का यह ढङ्ग बहुत पुराना है। मनुष्य भावातिरेक में अपने प्रिय जन से यह कहा करते है – 'तुम्हीं मेरे सुख हो' परन्तु यह पद्धति जब अधिक व्यंग्य मार्ग का अनुसरण करती है तो भाषा दुर्बोध हो जाती है। कामायनी मे ऐसे दुर्बोध स्थल भी कहीं-कहीं पाये जाते है। श्रद्धा और मनु दोनो प्रकृति के रमणीय क्षेत्र मे भ्रमण कर रहे है। प्राकृतिक सौन्दर्य्य ने मनु के मन में रति भाव उत्पन्न कर दिया है। मनु को श्रद्धा पहले से अधिक सुन्दर प्रतीत हो रही है। श्रद्धा के इस अभूतपूर्व सौन्दर्य-दर्शन से मुग्ध होकर मनु उससे पूछते है—

> कौन हो तुम विश्व-माया-कुहक सी साकार।
> प्राण-सत्ता के मनोहर भेद सी सुकुमार॥
> हृदय जिसकी कान्त छाया मे लिये विश्वास।
> थके पथिक समान करता व्यजन ग्लानि विनाश॥

उपर्युक्त पंक्तियो मे लाक्षणिकता बहुत दूर तक गई है। व्यंग्य भी अत्यन्त गूढ है। शास्त्र के अनुसार उपमान प्रसिद्ध एवं

चमत्कारपूर्ण होना चाहिए। उसके साधारण धर्म में उपमेय से अधिक वैशिष्ट्य होना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार 'विश्व-माया-कुहक' या 'प्राण-सत्ता के मनोहर भेद' का उपमानत्व शास्त्रीय दृष्टि से अनुचित है; क्योंकि ये उपमान न तो समय-सिद्ध उपमानो के अन्दर आते हैं और न उनमे उपमेय के सौन्दर्य से अधिक वैशिष्ट्य ही है। ऐसे अप्रसिद्ध उपमानो के लाने से रसोद्रेक मे बाधा पहुँचती है। चन्द्रमा तथा पङ्कज सदृश उपमान लक्षणा में रूढ़ हो गए हैं। इसलिए सर्वसाधारण उन्हे सरलता से समझ जाते है। प्रसाद की लाक्षणिकता का अधिक अंश रूढ़ि पर स्थित न होकर प्रयोजन के आधार पर खड़ा है। वे प्रतिभा तथा सूझ के बल पर प्रयोजन के अनुसार प्रकृति के रमणीय क्षेत्र से नये-नये लाक्षणिक प्रयोगों की उद्भावना किया करते है। अतः ऐसे नवीन लाक्षणिक प्रयोग अप्रसिद्ध उपमानो के कारण भाषा में कहीं-कहीं दुरूहता ला देते है।

प्रसादजी ने अपनी संस्कृत मनोवृत्ति के अनुसार जिस प्रकार तत्सम-प्रधान भाषा को माध्यम बनाया, उसी प्रकार संस्कृत कवियों की ध्वन्यात्मक शैली को अपनाकर अपने को भाषा-सम्बन्धी काव्य के मूलतत्त्व 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' से परिचित भी सिद्ध किया। वस्तुतः विचार कर देखा जाय तो कविता के क्षेत्र में न तो प्रभुसम्मित आदेश ग्राह्य है और न सुहृद्सम्मित शिक्षा। उसमें कान्तासम्मित (व्यंजनामूलक) संकेत ही प्रयोजनीय है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कामायनी ध्वनिप्रधान काव्य है। आधुनिक सत्काव्य की प्रवृत्ति के अनुसार इसमे भी अविवक्षित वाच्य ध्वनि की ही प्रधानता है। अविवक्षित वाच्यध्वनि को लक्षणामूला ध्वनि भी कहते है। इसमे वाच्यार्थ का उपयोग नहीं होता अर्थात् वाच्यार्थ अविवक्षित रहता है। इस ध्वनि में

गूढ़-व्यंग्या प्रयोजनवती लक्षणा का समावेश रहता है। उदाहरण लीजिए—

> आज यह पशु और इतना सरल सुन्दर स्नेह।
> पल रहे मेरे दिये जो अन्न से इस गेह॥
> मै? कहाँ मै? ले लिया करते सभी निज भाग।
> और देते फेक मेरा प्राप्य तुच्छ विराग॥

उपर्युक्त पद्य मे "मै? कहाँ मैं?" मे अर्थान्तरसक्रमित वाच्य-ध्वनि है। यहाँ द्वितीय 'मै' का वाच्यार्थ अर्थान्तर मे संक्रमण करता है अर्थात् लक्ष्यार्थ में प्रवेश करता है। मै का लक्ष्यार्थ है—जिसका श्रद्धा की सब वस्तुओ पर अधिकार है। इस द्वितीय अर्थ मे वाच्याथ के सक्रमण करने का कारण उसका (वाच्यार्थ का) उपयोग मे न आना है। यह अनुपयोग दो प्रकार का होता है—एक पुनरुक्ति मे और दूसरे जब वाच्यार्थ प्रकरण अर्थ मे किसी विशेष अर्थ की सिद्धि न करता हो। उपर्युक्त उदाहरण मे पुनरुक्ति-पद्धति का अवलम्बन किया गया है।

संलक्ष्य व्यग्यध्वनि का एक उदाहरण लीजिए :—

> "चञ्चल तू नभचर मृग बनकर भरता है चौकड़ी कही।
> मै डरती तू रूठ न जाये कैसे करती तुझे मना॥"

यहाँ वाच्यार्थ (मानव के रूठने) का बोध होने के पश्चात् व्यग्यार्थ (जैसे मनु रूठ गये वैसे तू भी न रूठ जाय) की प्रतीति होती है। संलक्ष्यक्रम व्यंग्य कहीं शब्द द्वारा कहीं अर्थ द्वारा और कहीं शब्द और अर्थ दोनों द्वारा प्रतीत होता है। यहाँ शब्द द्वारा प्रतीत हुआ है।

शब्दशक्ति से उद्भूत-ध्वनि दो प्रकार की होती है—वस्तु-ध्वनि तथा अलङ्कार-ध्वनि। वस्तु-ध्वनि वहाँ होती है जहाँ वस्तु व्यंग्य हो। अलङ्कारध्वनि वहाँ आती है जहाँ अलङ्कार व्यग्य हो। उपर्युक्त उदाहरण मे वस्तु ध्वनि है। अलङ्कार ध्वनि का एक उदाहरण लीजिए :—

नीरव थी प्राणो की पुकार।
मूर्च्छित जीवन सर निस्तरङ्ग नीहार घिर रहा था अपार।
निःस्तब्ध अलस बनकर सोयी चलती न रही चञ्चल बयार॥
पीता मन मुकुलित कञ्ज आप अपनी मधु बूँदे मधुर मौन।
निस्वन दिगन्त मे रहे रुद्ध सहसा बोले मनु अरे कौन॥

यहाँ इड़ा को देखकर मनु की निःस्तब्धता का वर्णन व्यग्य द्वारा ही हुआ है। इस वर्णन मे व्यंग्य द्वारा रूपक अलङ्कार की ध्वनि है। मनु के हृदय-रूपी कमल के भीतर उनका मन रूपी मधुकर मकरन्द-रूपी भावनाओ का आनन्द ले रहा है।

कामायनी मे उत्तम कोटि का ही नही, वरन् मध्यम कोटि का भी व्यंग्य मिलता है। जैसे गुणीभूत व्यग्य—

कल ही यदि परिवर्तन होगा,
तो फिर कौन बचेगा।
क्या जाने कोई साथी बन॥
नूतन यज्ञ रचेगा।

यहाँ काकाक्षिप्त व्यंग्य है। उपर्युक्त छन्द में नूतन शब्द पर बल पड़ने से व्यग्य आक्षिप्त होता है। 'नूतन' शब्द का यहाँ व्यंग्यार्थ है 'हिंसापूर्ण' जो स्वर के बल से प्रतीत होता है।

अब कामायनी के अलङ्कार-प्रयोग पर भी यहीं विचार कर लेना चाहिए। अलङ्कार पर विचार करते समय यह देखना चाहिए कि प्रसादजी ने भाषा को अलकृत करने के लिए अलङ्कारो का प्रयोग किया है या भावो मे उत्कर्ष लाने के लिए अथवा वस्तुओ के रूप, गुण तथा क्रिया का तीव्र अनुभव कराने के लिए। 'भूषन बिनु न विराजइ कविता बनिता मित्त' वाला केशव का अलङ्कार-सिद्धान्त कामायनी पर लागू नहीं हो सकता, प्रसादजी ने मम्मट के काव्य-सिद्धान्त 'अनलंकृती पुन: कापि' को अपने काव्यग्रन्थो में सत्य सिद्ध कर दिया है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि कामायनी में अलङ्कार हैं ही नही। इसमे बहुत से छन्द ऐसे है जिनमे अलङ्कार न होने पर भी कवित्व पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है। प्रसादजी अन्य कवियो के समान रमणीय वस्तुओ की योजना अलङ्कार के बल पर नहीं करते। कामायनी मे थोड़े-बहुत जो अलङ्कार मिलते है वे वाणी की सजावट के रूप में नहीं प्रत्युत भावाभिव्यक्ति के साधन रूप मे। कामायनी मे सादृश्य-मूलक अलङ्कारो, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, सन्देह, उदाहरण, अतिशयोक्ति आदि की संख्या अधिक मिलेगी। शब्दालङ्कारो में अनुप्रास, श्लेष, वीप्सा आदि का प्रयोग अधिक पाया जाता है। स्वाभाविक अनुप्रासों के प्रयोग से भाषा मे एक सहज आकर्षण उत्पन्न हो गया है—

> कङ्कण क्वणित रणित नूपुर थे,
> हिलते थे छाती पर हार।
>
> × × ×
>
> अपना कल कण्ठ मिलाते थे,
> झरनो के कोमल कलकल मे।

उपर्युक्त पंक्तियो मे अनुप्रास के सहज आकर्षण के अतिरिक्त शब्दमैत्री तथा नाद-सौन्दर्य भी अत्यन्त सुन्दर है। श्लेष तथा वीप्सा के प्रयोग में कहीं भी कृत्रिमता नहीं आने पाई है।

प्रसाद की सादृश्य-योजना मे दो सिद्धान्त दिखाई पड़ते हैं—स्वरूप-बोध तथा भाव-तीव्रता। जहाँ अगोचर तथ्यों के लिए गोचर सादृश्य का आश्रय लिया गया है वहाँ कवि का लक्ष्य स्वरूप-बोध पर है.

'कीर्ति किरन सी नाच रही थी'

जहाँ मूर्त के लिए अमूर्त सादृश्य की योजना हुई है वहाँ कवि का लक्ष्य भावोत्कर्ष या भाव-तीव्रता है। जैसे—

जल-सङ्कुल विलास वेग सा बढ़ने लगा।

कुछ सादृश्यो मे दोनो गुण वर्तमान है। इस प्रकार के सादृश्य लज्जा सर्ग मे अधिक है। सादृश्यमूलक अलङ्कारो में सबसे प्रधान है उपमा अलङ्कार; जिसका प्रयोग कामायनी मे सबसे अधिक हुआ है। कामायनी मे प्रयुक्त उपमाओं को हम चार भागों मे बाँट सकते है।

मूर्त से मूर्त की उपमा :—
उधर गरजतीं सिन्धु-लहरियाँ कुटिल काल के जालो सी।
चली आ रही फेन उगलतीं फन फैलाये व्यालो सी॥

अमूर्त से अमूर्त की उपमा—
निकल रही थी मर्मवेदना करुणा विकल कहानी सी।

मूर्त उपमान से अमूर्त उपमेय की तुलना—
अरी नीच कृतघ्नते! पिच्छल शिला संलग्न।
मलिन काई सी करेगी हृदय कितने भग्न॥

अमूर्त उपमान से मूर्त उपमेय की उपमा—

आ गया फिर पास क्रीड़ाशील अतिथि उदार।
चपल शैशव सा मनोहर भूल का ले भार॥

उपमाओं में लाक्षणिकता प्रायः सर्वत्र मिलेगी। रूपक अलङ्कार का प्रयोग अधिकतर प्राकृतिक दृश्य चित्रण या नारी रूप वर्णन मे हुआ है। प्रसाद में तुलसी के समान बहुत लम्बे रूपक नहीं मिलते। उत्प्रेक्षा अलङ्कार अधिकतर व्यंग्य रूप मे है। सन्देह तथा उदाहरण अलङ्कारों की सख्या कामायनी में बहुत थोड़ी है।

लक्षणा, व्यञ्जना तथा अलङ्कारों का आश्रय लेने पर भी जब भाषा वास्तविक अर्थ तथा सौन्दर्य को व्यक्त करने मे असमर्थ होती है तब कवि मूक भाव-व्यञ्जना का आश्रय लेता है। परन्तु इसका अधिक प्रयोग कवि की असमर्थता सूचित करता है। कामायनी मे भी मूक भाव-व्यञ्जना का प्रयोग हुआ है किन्तु ऐसे उपयुक्त स्थलो पर जहाँ कि उसका प्रयोग अत्यन्त उचित जान पड़ता है।

हे अनन्त! रमणीय! कौन तुम,
यह मै कैसे कह सकता।
कैसे हो? क्या हो? इसका तो,
भार विचार न सह सकता।

सम्बोधन के शब्द अनन्त तथा रमणीय कितने सार्थक है। वस्तुत. जो अनन्त हो, असीम हो, उसके लिए अवर्णनीय के अतिरिक्त और कहा ही क्या जा सकता है? ऐसे ही स्थलो पर पुरानी कवि-परम्परा मे "कहि न सक सहस सारदा शेष" की परिचित पदावली मिलती है।

प्रसाद की अभिव्यञ्जना में तीन प्रकार के प्रयोग मिलते है— प्राचीन, व्यक्तिगत तथा विदेशी।

एक प्राचीन प्रयोग का उदाहरण लीजिए—

देव कामिनी के नयनों से,
जहाँ नील नलिनी की सृष्टि।

इसी प्रकार की उक्ति तुलसी तथा जायसी में मिलती है।

जहँ विलोक मृग-सावक-नयनी।
जनु तहँ बास कमल सित श्रेनी॥—तुलसी

नयन जो देखा कवँल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन ज्योति नग हीर॥
—जायसी

प्रसादजी के व्यक्तिगत प्रयोगों से कामायनी भरी पड़ी है। उनमे से दो-चार का दिग्दर्शन यहाँ कीजिए—

चाँदनी सदृश खुल जाय कहीं,
अवगुंठन आज सँवरता-सा।
जिसमे अनन्त कल्लोल भरा,
लहरो में मस्त विचरता-सा॥

लहरो में मस्त विचरता-सा, प्रसादजी का व्यक्तिगत प्रयोग है। इसी प्रकार तारो के लिए 'तम के सुन्दरतम रहस्य', रात्रि के लिए 'इन्द्रजाल जननी' कल्पना के लिए 'शिशु चित्रकार', देवताओ के लिए 'सर्ग के अग्रदूत' आदि सैकड़ों व्यक्तिगत प्रयोग कामायनी मे मिलते है। पन्त के समान प्रसाद मे विदेशी (अँगरेजी के) प्रयोग अधिक नहीं मिलते। कामायनी मे तो खोजने पर दो-एक अँग्रेजी प्रयोग मिलेगे। जैसे 'शाश्वत नभ के गानो मे' "Eternal music of the sphere" का; उष्ण विचार 'warm fee-ling का तथा बोझ-सी ढोती to bear the Burden का

अनुवाद सा जान पड़ता है। यत्र-तत्र फारसी की उपमाएँ भी कामायनी मे मिलेगी।

इन्द्रनीलमणि महा चषक था,
सोमरहित उलटा लटका।

आकाश की उपमा चषक से देना फारसी-साहित्य में बहुत प्रचलित है। भारतीय साहित्य मे ऐसी उपमाओं का प्रचार नहीं है।

एक और उदाहरण लीजिए—

चेतना रङ्गीन ज्वाला परिधि में सानन्द।
मानती सी दिव्य सुख कुछ गा रही है छन्द॥
अग्निकीट समान जलती है भरी उत्साह।
और जीवित है; न छाले हैं; न उसमें दाह॥

अन्तिम दो पंक्तियो मे फारसी का प्रभाव स्पष्ट है चेतना का अग्निकीट से उपमा देना और 'रङ्गीन ज्वाला' में उसका जलना फारसी का प्रभाव है।

काव्य का वास्तविक सौन्दर्य विशेषणो के उचित प्रयोग पर निर्भर है। बहुत से कवि मात्रा-पूर्ति के लिए छन्दो मे अप्रासङ्गिक तथा अनुचित विशेषण ठूँस-ठूँसकर भरते है, जिससे काव्य-सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। विशेषणो का ऐसा प्रयोग होना चाहिए जिनसे विशेष्यों के रूप, गुण तथा कार्य-व्यापार मे वैशिष्ट्य की वृद्धि हो तथा क्रिया के साथ उनकी अन्विति हो।

क्या तुम्हे देखकर आते यो,
मतवाली कोयल बोली थी।

'मतवाली' विशेषण कितना साभिप्राय है। वह कोयल के गुण तथा अवस्था को व्यक्त करने में पूर्ण समर्थ है।

नील वन शावक से सुकुमार।
नील विशेष्य के रूप को स्पष्ट करता है।
चलती न रही चञ्चल बयार।
चञ्चल की अन्विति क्रिया से है॥

सचित्र विशेषणों का प्रयोग आधुनिक युग की कविता की प्रमुख विशेषता है। कविवर पन्त में इस कला का पूर्ण विकास पाया जाता है। प्रसाद के विशेषण सचित्र होते हैं। उनमें भाषा की शक्ति तथा कल्पना का संयम मिलता है। प्रथम सर्ग मे चिन्ता के विशेषण इसी प्रकार के है। नक्षत्र के लिए कवि के विशेषण 'तम के सुन्दरतम रहस्य' 'अनन्त की गणना' आदि बड़े भव्य है। रजनी का विशेषण 'इन्द्रजाल जननी' कितना व्यञ्जना-पूर्ण है। इनके विशेषण कहीं चित्रमय होते है और कही कल्पना प्रधान जैसे 'बिजली की दिवारात्रि' चित्रमय विशेषण है। चिन्ता के लिए विशेषण 'विश्व वन की व्याली' कल्पना प्रधान है।

कामायनी की भाषा की एक प्रमुख विशेषता है श्रुति सुखदता और इसका कारण है—श्रुति कटु शब्दो का परित्याग, 'उग्र तथा कठोर भावो में भी कोमल वर्णों का प्रयोग, सङ्गीत मयता कतिपय विशेष स्वरो का आगम तथा लोप, स्वरों का एक दूसरे मे द्रवित होना तथा सुन्दर शब्द मैत्री का प्रयोग। इसी श्रुति सुखदता के लिए प्रसादजी ने कामायनी मे कहीं-कहीं ब्रजभापा के शब्दो—गैल, बीन, परस, नखत, प्रान्त आदि का प्रयोग किया है। अतिमधुरता के कारण भाव-सौन्दर्य के साथ-साथ काव्य का नाद सौन्दर्य भी बढ़ गया है। इसी विशेषता के कारण कामायनी की

भाषा, माधुर्य-गुण प्रधान हो गई है। माधुर्य गुण का इतना आधिक्य तुलसी, सूर तथा मीरा को छोड़कर हिन्दी के और किसी कवि में नहीं मिलेगा।

कामायनी तक आते-आते प्रसाद जी की भाषा अत्यन्त शुद्ध परिमार्जित तथा प्रौढ़ हो गई है। 'झरना' की भाषा की शिथिलता इसमे कही नही है।

वस्तुत भाषा की सफलता अलङ्कारो का कौतुक दिखाने में नहीं, उक्ति वैचित्र्य का इन्द्रजाल रचने में नहीं, वरन् कवि की आत्मा व्यक्त करने मे है; जिससे कवि की अनुभूति पाठक की अनुभूति हो सके। कहने की आवश्यकता नहीं कि कामायनी की भाषा इस दृष्टि से पूर्ण सफल है। जो प्रसाद की अभिव्यक्ति-प्रणाली से अपरिचित हैं, उनकी अनुभूति से अनभिज्ञ हैं अथवा भाषा में प्रवीण नहीं है वे ही कामायनी की भापा पर क्लिष्टत्व दोष मढ़ते है। क्लिष्टत्व दोष का नाम लेनेवालो को पहले उसकी परिभाषा जाननी या करनी चाहिए। क्लिष्टत्व दोष वहाँ होता है जहाँ अभिप्रेत अर्थ की अभिव्यक्ति क्लेशसाध्य होती है या बहुत पेचीदे ढङ्ग से किसी अर्थ तक पहुँचा जाता है। पर कामायनी मे काव्य की स्वीकृत-वक्रोक्ति-पद्धति के अतिरिक्त वह घुमाव-फिराव कही नही दिखाई देता जिसे हम क्लिष्टत्व की सीमा के अन्तर्गत ले सके। जिन्हे वक्रोक्ति-पद्धति ही क्लिष्ट ज्ञात होती है उन्हे काव्यानुशीलन का अभ्यास करना चाहिए।

कामायनी की भाषा मे उँगलियों पर गिनी जाने योग्य कुछ त्रुटियाँ भी है, जो उसके गुणो के सामने नगण्य सी हैं, किन्तु दूसरा पक्ष छोड़ दिया गया; इस आक्षेप की आशङ्का से उनका उल्लेख करना उचित होगा—

दो एक स्थलों पर उपमाओं का साम्य भ्रामक है—जैसे नीचे की पंक्ति में देखिए—

हृदय कुसुम की खिली अचानक,
मधु से भींगी वे पाखें।

कवि को यहाँ हृदय और कुसुम दोनों का साम्य देखना चाहिए परन्तु कवि ने इसका ध्यान नहीं दिया। कुसुम मे पङ्खड़ियाँ तो होती हैं परन्तु हृदय में पङ्ख नहीं होता। इसलिए 'पॉखे' शब्द केवल कुसुम की ओर लगता है, हृदय की ओर नहीं। अतः साम्य अपूर्ण है। सादृश्य-योजना मे कवि को यह ध्यान रखना चाहिए कि पुल्लिङ्ग उपमेय के लिए पुल्लिङ्ग ही उपमान रक्खे जायँ। प्रसाद जी कहीं-कहीं इसकी उपेक्षा करते हुए दिखलाई पड़ते हैं।

कौन तुम संसृति जलनिधि तीर,
तरङ्गो से फेकी मणि एक।

यहाँ पुरुष मनु के लिए स्त्री-लिङ्ग उपमान 'मणि' आया है किन्तु ऐसी सादृश्य-योजनाओं का उद्देश्य जब लिङ्गत्व-बोध होगा, तभी वे अनौचित्य की सीमा के अन्तर्गत आयेंगी। स्मरण रखना चाहिए कि प्रसाद की उपर्युक्त सादृश्य-योजना का साध्य लिङ्गत्व-बोध नहीं है वरन् मनु की कान्ति, दीप्ति आदि की प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति। कहीं-कहीं कामायनी की भाषा मे दो एक अनुपयुक्त शब्द भी दिखाई पड़ते है।

सित सरोज पर क्रीड़ा करता
जैसे मधुमय पिंग पराग।

यहाँ क्रीड़ा शब्द उपयुक्त नहीं है क्योंकि क्रीड़ा मे गति होती है परन्तु पराग कमल के भीतर स्थिर रहता है। इसलिए पराग के लिए क्रीड़ा शब्द अनुपयुक्त है। यत्रतत्र दो एक निरर्थक शब्द भी दिखलाई पड़ते हैं।

> हाँ कि गर्व रथ मे तुरङ्ग सा,
> जितना जो चाहे जुत लो।

यहाँ कि शब्द व्यर्थ है। पादपूर्ति के अतिरिक्त इसका और कोई उपयोग नही है।

काव्य गत भाषा-रचना-सम्बन्धी कुछ दोष भी कामायनी में मिलते हैं। जैसे समाप्त पुनरात्त का एक उदाहरण लीजिए—

> कौन हो तुम वसन्त के दूत,
> विरस पतझड़ मे, अति सुकुमार।

यहाँ 'मे' के पश्चात् वाक्य समाप्त हो गया। परन्तु 'अति सुकुमार' विशेषण द्वारा यह वाक्य फिर उठाया गया है। कामायनी मे कहीं-कहीं मधुर पदावली के बीच कुट्टी, छुट्टी उत्तुङ्ग आदि कर्णकटु शब्द ऐसे खटकते हैं जैसे मधुर भोजन में छोटी कङ्कड़ी।

एकाध स्थान पर तुक के लिए तोड़े मरोड़े शब्द भी मिलते है। जैसे आराधना के लिए 'अराधना'।

भावाभिव्यक्ति

कामायनी की भावाभिव्यक्ति पर भी यहीं विचार कर लेना चाहिए। आचार्य अभिनव गुप्त ने भावाभिव्यक्ति की दो प्रणालियाँ बतलाई हैं—स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति – कामायनी में इसी दूसरी प्रणाली का अधिक अनुगमन किया गया है। परन्तु प्रसाद की वक्रोक्ति प्रणाली कुन्तक की 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' वाली प्रणाली नहीं है। उनका अपना स्वतन्त्र मार्ग है जिसमें वचनवक्रता अपेक्षित तो अवश्य है, पर वहीं तक जहाँ तक वह हृदय की किसी गहरी अनुभूति से सम्बन्ध रखती हो। उनकी वचनवक्रता का कारण अनुभूति की तीव्रता है, काव्य-कौशल दिखाने का आडम्बर नहीं। प्रसादजी की दृष्टि मे वक्रोक्ति का मूल्य उक्ति की विचित्रता मे नहीं वरन् भावना की तीव्रता और गहराई उपस्थित करने में है। उनकी वक्रोक्ति सर्वत्र भावानुमोदित है अथवा किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से प्रेरित। कामायनी की वक्रोक्ति मे वह 'वैदग्ध्य-भङ्गी-भणिति' नहीं जिसमे रीति भावो के ऊपर शासन करती हो। वे केवल चमत्कार दिखाने के लिए उक्ति वैचित्र्य का प्रयोग, काव्य में कौतुक या खेलवाड़ समझते है। इसी कारण वे अलङ्कारवादी कवियों को बुद्धिवादी कहकर उनसे अरुचि प्रकट करते है। उनकी वाणी मे वक्रता रहने पर भी हमारा ध्यान भाषा के बाँकपन की ओर नहीं जाता, भावो की ओर ही अग्रसर होता है क्योंकि उनकी वक्रता सर्वत्र उमड़ते हुए भावों की प्रेरणा से ही उद्भूत है।

अब यह देखना चाहिए कि उक्ति-वैचित्र्य का काव्य में क्या स्थान है और उस दृष्टि से प्रसादजी की वक्रोक्ति काव्य के

लिए उपयुक्त है अथवा अनुपयुक्त? उक्ति-वैचित्र्य पर विचार करते हुए एक स्थान पर शुक्लजी ने बतलाया है कि भावना को गोचर और सजीव रूप देने के लिए; भाव की विमुक्त और स्वच्छन्द गति रखने के लिए काव्य मे वक्रता प्रयोजनीय वस्तु है। बोध मात्र कराने के लिए जिस रूप मे बात कही जाती है उसी रूप मे उसे रखने से भावानुभूति नहीं जगती। बात इस रूप मे रखनी पड़ती है जो भाव जगाने मे समर्थ हो इसी से कहा गया है कि "इतिवृत्तिमात्रनिर्वाहेण नात्मपदलाभ" अतः काव्य मे वक्रता आदरणीय वस्तु है परन्तु वहीं तक जहाँ तक वह भावना तथा अनुभूति से सम्बद्ध है। प्रसाद की भावाभिव्यक्ति मे वक्रता इसी रूप मे गृहीत है। उनकी दृष्टि मे वक्रता के लिए अनुभूति की तीव्रता अपेक्षित है; काव्य-कौशल नहीं; क्योकि अभिव्यक्ति, सहृदयो के लिए उतनी व्यापक सत्ता नही रखती जितनी अनुभूति। उनके वर्ण-विन्यास मे चमत्कार है, परन्तु अयत्नविहित है; उनकी वाणी में विदग्धता तथा रमणीयता है; परन्तु वह अनुभूतिजन्य है। उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गई कि प्रसाद की वक्रोक्ति का सम्बन्ध भाव-व्यञ्जना के अन्तर्जगत् से है, बाह्य जगत से नहीं। इसी कारण कामायनी मे भाव-व्यञ्जना के बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखनेवाले अलङ्कार विभावना, श्लेष, विशेषोक्ति, पर्यायोक्ति, परिसख्या, विषम आदि नही मिलते।

रीतिकाल मे वक्रोक्ति की दो प्रणालियाँ दिखलाई पड़ती है। पहली अलङ्कार-आश्रित है दूसरी लक्षणामूलक। पहली प्रणाली का अवलम्बन लेनेवाले केशव, देव, पद्माकर, बिहारी आदि कवि हुए। दूसरी प्रणाली के अन्तर्गत घनानन्द दिखाई पड़ते हैं। कहना नहीं होगा कि प्रसाद की वक्रोक्ति प्रणाली घनानन्द की प्रणाली से मिलती हुई भारतीय प्रणाली है। परन्तु कामायनी की

वक्रोक्ति-प्रणाली में घनानन्द के समान किसी एक ही पद्धति (विरोधाभास—Paradox) की अधिकता न होने के कारण कृत्रिमता नहीं आने पाई है।

कामायनी में लाक्षणिक प्रयोगों की अधिकता के कारण सत्व को असत्व तथा असत्व को सत्व रूप में देखकर अपनी प्राचीन अभिव्यञ्जना प्रणाली से अपरिचित विद्वान् प्रसादजी पर अँगरेज़ी के पुरुपीकरण अलङ्कार के अनुकरण की घोषणा कर देते हैं। उन्हें यह ज्ञात नहीं कि सैकड़ो वर्ष पहले आनन्दवर्धनाचार्य ने लिखा है—

"भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्यस्वतन्त्रतया ॥"

पुरुपीकरण अलङ्कार की अधिकता का कारण प्रसादजी की भावुकता है। इस भावुकता के द्वारा वे चेतन को अचेतन तथा अचेतन को चेतन रूप में देते हैं। वे अपने सहज-सौन्दर्य-बोध के द्वारा विश्व में विस्तृत-सौन्दर्य के वास्तविक उपादानों को लेकर उनसे कल्पित सौन्दर्य को और भी विभूषित कर उन्हे अधिक से अधिक रमणीय बनाते रहते है। उनकी यह रमणीय योजना अन्य कवियों के समान उत्प्रेक्षा या अतिशयोक्ति के आधार पर नहीं है।

प्रसादजी ने अन्य महाकाव्यकारो के समान वस्तु-वर्णन मे ब्यौरेवार वर्णन-प्रणाली का अनुगमन नहीं किया। उनकी वर्णन शैली प्रगीत मुक्तको की व्यञ्जनावाली शैली है जिसमें किसी वस्तु का ब्यौरेवार वर्णन नहीं होता? केवल वर्ण्य विषय के मार्मिक अशो का चयन इस प्रकार होता है कि व्यञ्जना द्वारा छूटे हुए अशो की भी पूर्ति हो जाती है। इस प्रणाली का अवलम्बन लेने से कामायनी मे नीरस या इतिवृत्तात्मक स्थल कहीं भी नहीं आने पाये हैं, सर्वत्र मार्मिकता तथा रमणीयता वर्तमान है।

———

छन्द-विधान

कामायनी मे लगभग एक दर्जन छन्दो का उपयोग हुआ है। सामान्य दृष्टि से तो ऐसा जान पड़ता है कि सभी छन्द नये है किन्तु परीक्षा करने पर तीन या चार छन्दो के अतिरिक्त सभी छन्द पिङ्गल ग्रन्थो में मिल जाते है। कामायनी के सभी छन्द मात्रिक हैं। उनका तीन विभाग किया जा सकता है—शास्त्रीय छन्द, मिश्र छन्द तथा प्रसाद छन्द। पहले-शास्त्रीय छन्दो पर विचार करना चाहिए।

कामायनी का प्रधानशास्त्रीय छन्द ताटङ्क है। यह सोलह और चौदह मात्राओ के विराम से ३० मात्राओ का छन्द है। इसके अन्त मे मगण (SSS) होता है। किसी किसी ने एक ही गुरु माना है। लावनी भी इस ढङ्ग से गाई जाती है। परन्तु उसके अन्त मे लघु गुरु का कोई विचार नहीं होता। ताटङ्क के अन्त मे यदि एक लघु वर्ण जोड़ दिया जाय तो वही वीर छन्द हो जाता है, जिसे आल्हा भी कहते है। चिन्ता, आशा, स्वप्न तथा निर्वेद प्रकरणो मे ताटङ्क छन्द का प्रयोग हुआ है; जो कभी कभी लावनी की स्वच्छन्दता भी धारण कर लेता है और कभी वीर छन्द में परिवर्तित हो जाता है; किन्तु उसकी गति में इतना सूक्ष्म अन्तर होता है कि पाठक या श्रोता को शीघ्र प्रकट नहीं होता। विशेष ध्यान देने पर ही उनका अन्तर स्पष्ट होता है। यथा—

उसी तपस्वी से लम्बे थे देवदारु दो-चार खड़े।

—ताटङ्क।

नीचे जल था, ऊपर हिम था,
एक तरल था, एक सघन।

—लावनी।

नीचे प्रलय-सिन्धु लहरों का होता था सकरुण अवसान।

—वीर छन्द।

चिन्ता, आशा तथा निर्वेद सर्ग में प्रत्येक दो पंक्तियों का तुक मिलता है। किन्तु 'स्वप्न' मे प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ पंक्तियाँ एक सी हैं तृतीय पंक्ति अतुकान्त है। इसमें तुक-प्रणाली फारसी की रुबाइयों सी है।

श्रद्धा मे शृङ्गार छन्द प्रयुक्त है। इसके प्रत्येक चरण मे १६ मात्रा होती है; अन्त मे ऽ। का क्रम रहता है।

कौन तुम संसृति जलनिधि तीर,
तरङ्गों से फेंकी मणि एक।
कर रहे निर्जन का चुपचाप,
प्रभा की धारा से अभिषेक।

इसमें कहीं कहीं ऽ। के स्थान पर अन्त मे ।ऽ भी कर दिया जाता है। यथा—

तरल आकांक्षा से है भरा,
सो रहा आशा का आह्लाद।

काम तथा लज्जा सर्ग मे पद पादाकुलक का प्रयोग हुआ है। यह १६ मात्राओ का छन्द है जिसके अन्त मे ऽ होता है।

जब लिखते थे तुम सरस हँसी,
अपनी फूलो के अञ्चल मे।

वासना का प्रसिद्ध छन्द रूपमाला है। चौदह दस के विराम से इसमें २४ मात्रायें होती हैं। अन्त में ऽ। होता है। इसे मदन भी कहते है।

चल पड़े कब से हृदय दो, पथिक से अश्रान्त।
यहाँ मिलने के लिए, जो भटकते थे भ्रान्त।

कर्म में सार छन्द का उपयोग हुआ है। इसमे १६-१२ की यति से २८ मात्राएँ होती है और अन्त मे दो गुरु होता है। कभी कभी एक ही गुरु होता है। किसी किसी कवि ने अन्त मे तीन गुरु माने हैं। इन तीनो रूपो का व्यवहार कर्म सर्ग में हुआ है। सार को नरेन्द्र या ललित पद भी कहते हैं।

दो गुरु—फिर इस निर्जन मे खोजे
अब किसको मेरी आशा।

एक गुरु—परम्परागत कर्मों की वे
कितनी सुन्दर लड़ियाँ।

तीन गुरु—जो अपने अभिनय से मन को
सुख मे उलझा लेती।

संघर्ष मे रोला का व्यवहार हुआ है। इसमें ११-१३ के विराम से २४ मात्राएँ होती है। किसी-किसी पिङ्गलकार का मत है कि इसके अन्त मे दो गुरु अवश्य ही चाहिए, परन्तु यह सर्व-सम्मत नहीं।

किन्तु मिला अपमान और व्यवहार बुरा था।
मनस्ताप से सबके भीतर रोष भरा था॥

ईर्ष्या तथा दर्शन सर्ग में मिश्र छन्द का प्रयोग हुआ है। ईर्ष्या सर्ग में प्रयुक्त छन्द का पहला चरण १६ मात्राओं का पद-पादाकुलक है और दूसरा १६ का पद्धरि है।

पल भर की उस चञ्चलता ने
खो दिया हृदय का स्वाधिकार।

दर्शन सर्ग का छन्द पद्धरि तथा पदपादकुलक के मेल से बना है। प्रथम दो और अन्तिम दो पक्तियाँ पद्धरि छन्द की है। बीच की चार पक्तियो मे पदपादाकुलक है—

वह चन्द्रहीन थी एक रात।
जिसमे सोया था स्वच्छ प्रात॥
उजले उजले तारक झलमल।
प्रतिबिम्बित सरिता वक्षस्थल॥
धारा वह जाती बिम्ब अटल।
खुलता भी धीरे पवन पटल॥
चुपचाप खड़ी थी वृक्ष पाँत।
सुनती जैसे कुछ निजी बात॥

पद्धरि छन्द १६ मात्रा का होता है। अन्त में जगण अथवा केवल गुरु लघु होता है। पादाकुलक में चार-चार मात्राओ के चार चौकल होते है। अन्त में प्राय: लघु होता है। पंक्ति १, २, ७, ८ का तुक एक और ३, ४, ५, ६ का दूसरे प्रकार है।

प्रसाद जी ने छन्दों मे भी अपनी कर्तृत्व-शक्ति का परिचय दिया है। जिस प्रकार कामायनी के अन्य तत्त्व कर्ता की मौलिकता तथा स्रष्टापन का परिचय देते हैं उसी प्रकार छन्द भी। इड़ा, रहस्य तथा आनन्दसर्ग में प्रसाद जी के निजी छन्द प्रयुक्त

है। इड़ा में गीत पद का प्रयोग है। जिसमे प्रथम (टेक) तथा अन्तिम पंक्ति १६ मात्राओ की तथा शेष ७ पंक्तियाँ २२ मात्राओं की हैं। पंक्ति ५ तथा ६ मत्तसवैया से मिलती है। इनके अन्त मे लघु गुरु का प्रयोग है। अवशिष्ट अन्य पंक्तियो के अन्त में गुरु लघु का क्रम है। प्रथम, द्वितीय, तृतीय, अष्टम और नवम— इन पाँच पंक्तियो का तुक एक है। चतुर्थ, पञ्चम का तुक दूसरा है और षष्ठ तथा सप्तम का तीसरा।

किस गहन गुहा से अति अधीर।
झञ्झा प्रवाह सा निकला यह जीवन विक्षुब्ध महासमीर।
ले साथ विकल परमाणु पुञ्ज नभ अनिल अनल क्षिति और नीर॥
भयभीत सभी को भय देता भय की उपासना में विलीन।
प्राणी कटुता को बाँट रहा जगती को करता अधिक दीन॥
निर्माण और प्रतिपद विनाश में दिखलाता अपनी क्षमता।
सङ्घर्ष कर रहा सा जब से सब से विराग सब पर ममता॥
अस्तित्व चिरन्तन धनु से कब यह छूट पड़ा है विषम तीर।
किस लक्ष्य-भेद को शून्य चीर॥

ताटङ्क के अन्त में एक गुरु जोड़कर कवि ने रहस्यसर्ग का छन्द बना लिया है। इसका लक्षण तो काम और लज्जा सर्ग के छन्द से मिलता है किन्तु गति मे सूक्ष्म अन्तर है—

उदाहरण—

उर्ध्वदेश उस नील नभस मे स्तब्ध हो रही अचल हिमानी।
पथ थक कर है लीन चतुर्दिक देख रहा वह गिरि अभिमानी॥

आनन्द का छन्द आँसू का प्रसिद्ध छन्द है। इसमें १४, १४ के के विराम से २८ मात्राये होती हैं—

जिस मुरली के निस्वन से,
यह शून्य रागमय होता।

छन्दों में कहीं-कहीं यतिभङ्ग दोष भी मिलता है। जैसे—

मै बैठी गाती हूँ तकली के,
प्रतिवर्त्तन मे स्वर विभोर।
चल री तकली धीरे-धीरे,
प्रिय गये खेलने को अहेर॥

प्रथम पंक्ति मे यतिभङ्ग दोष है।

प्रसाद जी वस्तुतः प्रगीत-काव्य के कवि हैं। गीत-काव्य में जिस प्रकार उद्‌गारो का सौन्दर्य कोमल कलेवर रूप मे प्रकट होता है उसी प्रकार कामायनी में भी प्रकट हो रहा है। इसलिए यह महाकाव्य गीत-काव्य की आत्मा से खिल उठा है। सभी छन्द भावानुरूप है। सब में सङ्गीत तत्त्व की प्रधानता है। छन्दों की सुगीतिता के कारण कामायनी का नाद-सौन्दर्य भी उसके भाव-सौन्दर्य के समान ही रमणीय तथा आकर्षक हो गया है।

रस-सञ्चार

प्रसादजी क्या जीवन, क्या साहित्य; सर्वत्र आनन्दवाद के पृष्ठपोषक के रूप मे दिखाई पड़ते है। काव्य-जगत् में उन्होंने रस को प्रधान मानकर आनन्दवाद की प्रतिष्ठा की है। इसी सिद्धान्त पर उन्होंने साहित्य की दो कोटियाँ स्थिर की है*—आनन्द-प्रधान या रसात्मक तथा बौद्धिक या आलङ्कारिक। उनकी रचना आनन्द-प्रधान या रसात्मक साहित्य के अन्तर्गत आती है। वे अलङ्काकारवादी, वक्रोक्तिवादी तथा रीतिवादी सम्प्रदायो को बुद्धि-वादी मानते थे। उनके काव्य की आत्मा रीति या अलङ्कार नहीं वरन् रस है, जो अकेले ही आनद की सृष्टि करने मे पूर्ण समर्थ है। काव्य मे जहाँ कहीं वास्तविक आनन्द या रस का प्रवाह है, वहाँ आत्मा की सङ्कल्पात्मक प्रेरणा वर्तमान है। यह प्रेरणा प्रसादजी के काव्यो मे आत्म-शक्ति की वह असाधारण अवस्था है जो परम सत्य को अपने मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर काव्य मे सङ्कल्पात्मक अनुभूति के रूप मे प्रकट होती है। अभिनवगुप्त भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन "आस्वादात्माऽनुभवोरस: काव्यार्थ-मुच्यते" द्वारा कर रहे है। तात्पर्य यह कि प्रसाद की रचना मे विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारीभाव को बलात् एक स्थान पर बैठाने से 'रस-सृष्टि नहीं हुई है, वरन् आत्मा की सङ्कल्पात्मक अनुभूति ही रस रूप में परिणत हो गई है। कामायनी उनके उक्त सिद्धान्त का उदाहरण है। इसमें कवि की दृष्टि केशव

---

* काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध का प्राकथन, पृष्ठ १५।

के समान काव्य के बाहरी अङ्गो की योजना पर नहीं वरन् रस-सृष्टि पर है।

"शैवागम* के आनन्द सम्प्रदाय के अनुयायी रसवादी रस की दोनो सीमा—शृंगार और शान्त को स्पर्श करते थे।" इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन कामायनी मे होने के कारण वह रस के दोनो सीमान्त प्रदेशो—शृङ्गार और शान्त को स्पर्श करती है। पात्रो द्वारा जिन स्थायी भावो की व्यञ्जना कामायनी में हुई है उनमे रति की व्यापकता होने पर भी उसका पर्यवसान शम मे ही हुआ है। किन्तु शम भी प्रकृति पुरुष की रति से ओत-प्रोत है। अतः इसकी प्रबन्ध-ध्वनि शृंगार रस ही ठहरती है। इनके अतिरिक्त वात्सल्य, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत तथा करुण रस अङ्ग रूप मे आये है। हास्य और वीभत्स का कामायनी में अभाव ही समझना चाहिए।

काव्यगत अनुभूति दो प्रकार की होती है—भाव-जन्य तथा चमत्कार-जन्य। प्रथम प्रकार की अनुभूति में सहृदय पाठक तद्वत् भाव-दशा को प्राप्त होता है, किन्तु दूसरे प्रकार की अनुभूति में उन भावो मे मग्न हो जाता है। यहाँ चमत्कार से तात्पर्य खेलवाड़ या कौतुक नहीं है, प्रत्युत् चमत्कार समानाधिकरण आह्लाद है अर्थात् जहाँ चमत्कार और आह्लाद दोनो एक भूमिका मे प्रतिष्ठित हो जाते हैं। कौतुक-मिश्रित चमत्कार भी एक प्रकार का चमत्कार ही है परन्तु उसमें चित्त का विस्फार नहीं होता। इसलिए उसे हम रस नहीं मान सकते। भाव-जन्य-स्थिति मे केवल अर्थ-प्रतीति होती है; किन्तु चमत्कार-जन्य स्थिति मे भाव भोग रूप में सहृदय द्वारा ग्रहण किया जाता है। जैसे किसी

---

* काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृष्ठ ७३।

जलती हुई कड़ाही के घी की गन्ध से पूड़ी की प्रतीति मात्र होती है। इस प्रतीति को भाव-दशा कहते हैं। परन्तु उस पूड़ी को जब हम खाते है तब उसका भोग होता है और तभी उसका आस्वाद भी जाना जा सकता है। इस भोग-स्थिति को ही रस दशा कहते है। रस मे भावो का परिष्कार होता है। भावों का वेग उतनी ही मात्रा मे पाठक या श्रोता मे नहीं उत्पन्न होता जिस मात्रा मे आश्रय मे उत्पन्न होता है क्योकि ऐसी स्थिति में साधारणीकरण उत्कट होने से क्षोभ उत्पन्न होता है। इस विक्षुब्धता के कारण आनन्द मे वाधा पहुँचती है और उसकी सात्त्विकता नष्ट हो जाती है। तात्पर्य यह कि पाठक के हृदय मे भावो की स्थिति छनकर [परिष्कृत होकर] सात्त्विक रूप मे आती है। इसी कारण स्थायी भाव और इनके नाम एक नही, भिन्न भिन्न है। उदाहरणार्थ करुण रस को लीजिए। करुण रस का स्थायी भाव शोक है। शोक निज की इष्टहानि पर होता है और करुणा दूसरो की पीड़ा पर होती है। इसी अन्तर को लक्ष्य करके काव्यगत पात्र के क्षोभ की व्यञ्जना-द्वारा उत्पन्न अनुभूति को आचार्यों ने शोक रस न कहकर करुण रस कहा है। रसोद्दीप्ति मे मुख्य वस्तु आलम्बन है और आलम्बन भी निश्चित या विशेष व्यक्ति होना चाहिए क्योकि रस व्यक्ति से होता हुआ आता है जाति से नही। आलम्बन काव्यगत पात्र से व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित रखते हुए भी अपने लोक-धर्म के कारण पाठक मात्र का आलम्बन हो जाता है तभी तो मनुष्य-मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालता है तथा सहस्रो हृदय उसके भावो में मग्न हो जाते है—जैसे रौद्र रस की सच्ची अभिव्यक्ति तभी होगी जब उसका आलम्बन लोक-पीड़क रूप मे दिखाया जायगा। व्यक्तिगत अपकार करनेवाले आलम्बन मे क्रोध भाव ही तक रह जाता है।

भाव-विभाव दोनों पत्तों के सामञ्जस्य के बिना रसानुभूति पूर्ण नहीं हो सकती। रस दशा समझ लेने के पश्चात् अब उसी सिद्धान्त से कामायनी के रसों पर विचार करना चाहिए। सबसे पहले शृङ्गार रस को लीजिए क्योंकि वही इस काव्य का अङ्गी रस है। शृङ्गार का रसराजत्व सुखात्मक तथा दुःखात्मक वृत्तियों के ग्रहण से ही नहीं प्रत्युत् सर्वभूत को आत्मभूत रूप में देखने के कारण है। इसके रसराजत्व का दूसरा कारण इसकी बहुकालव्यापिनी स्थिति है। अन्य रस बहुत थोड़ी देर तक रहते है क्योंकि उनमें अधिक देर तक रमना मनुष्य-स्वभाव के लिए सम्भव ही नहीं। परन्तु शृङ्गार मे तो जब तक वियोग या संयोग रहता है तब तक शृङ्गार रस की व्याप्ति रहती है। शृङ्गार रस मे आलम्बन की चेष्टाओं तक ही उद्दीपन नहीं रहता प्रत्युत् उसके अन्तर्गत सारी प्रकृति आ जाती है। और किसी भाव में मग्न रहनेवाला आलम्बन की खोज मे रहता है परन्तु शृङ्गार रस मे प्रेम-भाव का ऐसा रङ्ग चढ़ जाता है कि उसे सर्वत्र आलम्बन का ही रूप, रङ्ग, गुण, ध्वनि आदि सुनाई देती है। काम सर्ग के प्रारम्भ मे मनु की काम दशा द्वारा यह स्थिति दिखाई गई है।

उदाहरण—

जब लिखते थे तुम सरस हँसी,
अपनी—फूलो के अचल मे।
अपना कलकंठ मिलाते थे,
झरनो के कोमल कल कल मे।
निश्चिन्त आह वह था कितना
उल्लास काकली के स्वर मे
आनन्द प्रति ध्वनि गूँज रही
जीवन दिगन्त के अम्बर मे।

शृङ्गार का स्थायी भाव रति है, जिसका जगना बाह्य या आभ्यन्तर सौन्दर्य-दर्शन पर आश्रित है। अतः नायक के हृदय में रति का उद्रेक करने के लिए नायिका का रूप वर्णन आवश्यक है। इसी दृष्टि से प्रसादजी ने कामायनी का रूप वर्णन श्रद्धा सर्ग के आरम्भ में किया है। देखिए—

"घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस अवलम्बित मुख के पास
नील घन-शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास"।

मनु श्रद्धा की भावानुकूलता तथा सहानुभूति का अवलम्ब लेकर अपनी करुण कहानी सुनाते है। श्रद्धा द्रवीभूत होकर सहचरी होने का प्रस्ताव करती है। श्रद्धा द्वारा प्रथम प्रेम-प्रस्ताव उपस्थित कर कवि ने भारतीय परम्परा का निर्वाह किया है। स्त्री के प्रस्ताव करने पर पुरुष के हृदय में प्रेम की इच्छा जगना स्वाभाविक है। रति भाव को उद्दीप्त करने के लिए वासना सर्ग मे उद्दीपनों का विधान अत्यन्त रमणीय हुआ है।

"मधु बरसती विधु किरण है काँपती सुकुमार।
पवन में है पुलक मन्थर चल रहा मधु-सार।
तुम समीप अधीर इतने आज क्यो हैं प्राण।
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घ्राण"।

मतवाली प्रकृति के इन मादक दृश्यो को देखकर मनु का मन श्रद्धा से मिलने के लिए क्यो न अधीर होता जब कि प्रकृति के प्रत्येक कोने से मिलन का सङ्गीत सुनाई दे रहा था—

बरसता था मदिर कण सा स्वच्छ सतत अनन्त।
मिलन का संगीत होने लगा था श्रीमन्त।

अनुराग के पूर्ण विकास का परिणाम परिणय है। तदनुसार श्रद्धा और मनु का अनुराग भी परिणय मे परिणत हो जाता है। इस मधु मिलन के अवसर पर कवि ने अनुभावो की बड़ी सुन्दर योजना की है।

मधुर व्रीड़ा मिश्र चिन्ता साथ ले उल्लास।
हृदय का आनंद कूजन लगा करने रास।
गिर रहीं पलकें झुकी थी नासिका की नोक।
भ्रूलता थी कान तक चढ़ती रही बे रोक।

इसके पश्चात् ही सञ्चारी भावो लज्जा, पुलक आदि का प्रकृत विधान हुआ है।

विप्रलम्भ शृंगार की व्यञ्जना भी प्रसादजी ने बड़े मार्मिक ढङ्ग से की है। कामायनी में तीन प्रकार के विप्रलम्भ—मान, करुण तथा प्रवास—मिलते है। कर्म सर्ग मे श्रद्धा के मान का अच्छा वर्णन है। मनु श्रद्धा के पशु को मारकर यज्ञ करते है, जिससे श्रद्धा रूठ जाती है। मनु उसे मनाने के लिए वहाँ पहुँचते है जहाँ वह स्नेह-जन्य अमर्ष से भरी हुई मृगचर्म पर पड़ी है।

मधुर विरक्ति-भरी आकुलता फिरती हृदय-गगन में।
अन्तर्दाह स्नेह का तब भी होता था उस मन मे।
वे असहाय नयन थे खुलते-मुँदते भीषणता मे।
आज स्नेह का पात्र भरा था स्पष्ट कुटिल कटुता मे।

मनु के प्रथम पलायन मे श्रद्धा का विरह करुण ही कहा जायगा। क्योंकि इस विरह मे श्रद्धा को मनु से फिर मिलने की सम्भावना बहुत कम थी परन्तु मनु का द्वितीय निष्क्रमणकाल

प्रवास के अन्तर्गत आयेगा। क्योंकि उसमें श्रद्धा को विश्वास है कि मनु पुनः मिल जायेंगे।

"मिल जायेगा हूँ प्रेम पली।"

इस विश्वास के कारण प्रवास-विप्रलम्भ में वेदना की उतनी तीव्रता नहीं जितनी करुण विप्रलम्भ में है। दूसरे इस स्थल पर श्रद्धा राष्ट्र-हित-चिन्तन में विरह-व्यथा को कुछ भूल सी जाती है, इसी लिए प्रवास-विप्रलम्भ का वर्णन बहुत संक्षिप्त हुआ है।

करुण विप्रलम्भ का वर्णन स्वप्न सर्ग के आरम्भ में हुआ है। इसमे स्मृति, चिन्ता, उद्वेग, दैन्य, विषाद, उन्माद आदि विरह दशाओ का अत्यन्त मार्मिक वर्णन है। विरहताप के वर्णन मे कवि ने रीति-कालीन ऊहात्मक पद्धति, षड्ऋतु-वर्णन आदि की सहायता कहीं नहीं ली है। परम्परा के अनुसार विरह की दसो दशाओ को गिनाने की प्रवृत्ति भी कामायनी में नहीं है। विरह-वर्णन संक्षिप्त होते हुए भी इतना व्यञ्जनापूर्ण है कि वह विरह-ताप का अनुमान कराने मे पूर्णतया समर्थ है—

एक मौन वेदना विजन की, झिल्ली की झनकार नहीं।
जगती की अस्पष्ट उपेक्षा एक कसक साकार रही।
हरित कुञ्ज की छाया भर थी वसुधा आलिङ्गन करती।
यह छोटी सी विरह-नदी थी जिसका है अब पार नहीं।
(स्वप्न सर्ग)

विरहिणी श्रद्धा इतनी कृश हो गई है कि पहचानी भी नहीं जाती। उसकी वेदना इतनी अधिक है कि वह कसक की साकार मूर्ति बन गई है। श्रद्धा का यह विरह-वर्णन भवभूति की सीता का स्मरण करा देता है जो राम के विरह में क्षीण होते होते स्थूल जगत् से उठकर भाव-जगत् की वस्तु रह गई हैं—

परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरम्
दधती विलोलकबरीकमाननम् ।
करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी
विरहव्यथैव वनमेति जानकी ॥
(उत्तररामचरित तृतीय अङ्क)

जिस प्रकार सीता विरह-वेदना मे करुणा की मूर्ति अथवा विरह-व्यथा की साकार प्रतिमा बन गई है तद्वत् कामायनी भी विरह-व्यथा के कारण विजन की 'मौन वेदना', 'जगती की अस्पष्ट उपेक्षा', 'साकार कसक' तथा 'अपार विरह-नदी' के रूप में परिणत हो गई है। 'आँसू' जैसा विरहकाव्य लिखनेवाला कवि यहाँ बहुत ही सन्तुलित तैथा संयमशील दिखाई पड़ता है। इसके दो प्रधान कारण है। प्रथम कामायनी का समरसुतावाला सिद्धान्त दूसरा श्रद्धा का आत्मिक प्रेम। श्रद्धा अन्य साधारण नायिकाओ के समान इतनी आकुल नहीं है कि उसके विरह-गीत वर्णन करने मे कवि को पूरा एक सर्ग लगाना पड़े। सरमसता की प्रतीक श्रद्धा विरह-काल मे अपने जीवन में सामञ्जस्य न लाती तो जीवन की परीक्षा मे खरी कैसे उतरती? कवि के समरसतावाले सिद्धान्त का प्रतिपादन पूर्ण रूप से कैसे करती? जिनका प्रेम कायिक होता है वेही विरह काल मे अधिक आकुल दिखाई पड़ते है परन्तु जिनका प्रेम आत्मिक हो गया है उनमें आकुलता की अधिकता न हो तो आश्चर्य ही क्या!

शान्त रस—शान्त रस स्वयं एक लँगड़ा रस है। नाटक मे इसकी सत्ता आचार्यों ने नहीं मानी है क्योकि यह लोक-जीवन का सामान्य भाव नहीं है। इसमें वैराग्य भाव की प्रधानता रहती है जो वृद्धावस्था मे उत्पन्न होता है। अतः वह वास्तविक

जीवन के साथ चलनेवाले काव्य नाटक आदि के अनुकूल नहीं पड़ता। आदर्श जीवन को लेकर चलनेवाले श्रव्य काव्यों में इसकी कुछ गुञ्जायश है तभी तो 'रामायण', 'महाभारत' आदि प्राचीन आदर्श श्रव्य काव्यों मे इसकी सत्ता दिखाई देती है। वाल्मीकि-रामायण मे राम अन्त मे वैराग्य-प्रेरित होकर सरयू नदी मे धँसने चले गये है। महाभारत में पाँचो पाण्डव युधिष्ठिर के साथ हिमालय मे गलने चले गये है तद्वत कामायनी मे श्रद्धा मनु को लेकर विश्व के कोलाहल से दूर कैलास लोक को चली जाती है। कुछ पाठको के मन मे यह सन्देह उपस्थित हो सकता है कि श्रद्धा तो वहाँ मनु के साथ घर बनाकर रहने लगती है; अन्त मे उसका सारा परिवार वहाँ चला जाता है। तब भला यहाँ शान्त रस कैसे हुआ ? परन्तु यहाँ कैलास-गमन का कारण निर्वेद है जो तत्त्वज्ञान से उत्पन्न हुआ है। वह इष्ट-नाश या अनिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न नहीं होता जिसे आचार्य मम्मट-शृङ्गार का सञ्चारी मानते है क्योकि जिस समय मनु को निर्वेद उत्पन्न हुआ था उस समय उनकी इष्ट श्रद्धा उनके पास ही थी। यह निर्वेद मनु के हृदय मे संसार की प्रवंचना, असारता आदि के ज्ञान से उत्पन्न होता है।

सोच रहे थे, जीवन सुख है ? ना, यह विकट पहेली है,
भाग अरे मनु ! इन्द्रजाल से कितनी व्यथा न झेली है ?
यह प्रभात की स्वर्ण किरन सी झिलमिल चञ्चल सी छाया,
श्रद्धा को दिखलाऊँ कैसे यह मुख या कलुषित काया।

यहाँ निर्वेद भाव रूप मे ही है। रस दशा को नहीं प्राप्त हुआ है। आनन्द सर्ग मे यह भाव रस दशा को प्राप्त होता है। वहाँ कैलास, एकान्त प्रदेश, विजन वन आदि उद्दीपन है।

'द्वयता की विस्मृति', 'आनन्द-पुलक' आदि अनुभाव हैं। शान्त रस के सञ्चारी भाव हर्ष आदि की व्यंजना भी उसी सर्ग मे हुई है। शान्त रस का दूसरा प्रसङ्ग आशा सर्ग में मिलता है जहाँ मनु नियति के एकान्त शासन में तप में निरत होकर विरतिपूर्ण संसार का आरम्भ करते है। यहाँ पर उद्दीपन द्वारा कवि ने शान्त रस की एक हल्की व्यंजना कराई है।

धवल मनोहर चन्द्रबिम्ब से
अङ्कित सुन्दर स्वच्छ निशीथ
जिसमे शीतल पवन गा रहा
पुलकित हो पावन उद्गीथ ॥

यहाँ पर पवन के 'पावन उद्गीथ' द्वारा शान्त रस की व्यंजना कराई गई है।

करुण रस—करुणा ही एक ऐसा व्यापक भाव है जिसकी प्रत्यक्ष या परोक्ष अनुभूति सब रसो और सब दशाओ मे रसात्मक होती है। इसी से भवभूति ने करुण रस को 'एको रस करुण एव' कहा। करुण रस में आलम्बन को लोकगत पात्र होने की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी अन्य रसों मे है। लोकगत किसी साधारण पात्र के दुःख से भी करुण रस उत्पन्न हो सकता है। आदिकवि वाल्मीकि के हृदय में तो एक क्रौञ्च पक्षी के मिथुन-वध से करुणा का सागर उमड़ पड़ा था। रावण की पत्नी मन्दोदरी के पुत्र-शोक-जन्य विलाप से भी करुण रस उत्पन्न हो सकता है। सारांश यह कि करुण-रस की उत्पत्ति के लिए पर-प्रतीतिशील हृदय की जितनी आवश्यकता है उतनी लोकगत आलम्बनत्व की नहीं। आरम्भ मे मनु एक साधारण पात्र के रूप मे देवसृष्टि के विध्वंस पर चिन्ताशील शोकाकुल हृदय लिये

हुए पाठकों के समक्ष आते है, परन्तु उनके विषाद, शोक, चिन्ता आदि से सहृदय के हृदय में करुण रस उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। चिन्ता सर्ग मे मनु की इष्ट वस्तु देवसृष्टि के विध्वंस का वर्णन तथा अनिष्टकारी प्रलय का चित्र मार्मिक ढङ्ग से खींचा गया है। इस प्रकार करुण रस के स्थायी भाव शोक की व्यजना प्रथम सर्ग मे हुई है।

प्रलय में विनष्ट बन्धु-बान्धव, सुखोपकरण, विभूति आदि आलम्बन है। देवताओ का दम्भ, उच्छृङ्खल विलास, अतीत-सुख, कीर्ति, दीप्ति आदि का स्मरण उद्दीपन है। मनु का प्रलाप, देवताओ की निन्दा, मर्म वेदना का निकलना, 'कातर क्रन्दन' उछ्वास आदि अनुभाव है। भविष्य की चिन्ता, विस्मृति, जड़ता आदि सञ्चारी भाव है।

भय या डर नामक भाव की स्थिति प्राय: निम्न कोटि के पात्रो मे दिखाई जाती है किन्तु जब भयानक रस की स्थिति अच्छे पात्रो मे दिखानी होती है तब भय का कारण लोकगत बनाना पड़ता है। उच्च श्रेणी के पात्रो में जब भय का भाव उत्पन्न होता है तब वे उससे डरकर भागते नहीं पर उसके निवारण का प्रयत्न करते है। जैसे किसी गॉव मे आग लग जाय तो उत्तम कोटि के पात्र डर कर भागेगे नहीं प्रत्युत उसके बुझाने का प्रयत्न करेगे। मनु प्रलयकालीन भयङ्कर जल-प्रवाह से डरकर धैर्य रहित नहीं होते। कुछ समय के लिए चिन्ता से कातर भले ही हो जायॅ पर कायर या डरपोक रूप मे दिखाई नहीं पड़ते। इसी प्रकार वे युद्धस्थल मे रुद्र के भयङ्कर नाराच को देखकर तथा महाशक्ति की भीषण हुंकार सुनकर कायरो के समान रणक्षेत्र से भागते नही। भयानक रस मे दूसरी बात स्मरण रखने की यह है कि यह उन रसो मे से है जिनमे अलग-अलग आश्रय या आलम्बन

के वर्णन की आवश्यकता नहीं पड़ती। केवल आलम्बन के यथातथ्य वर्णन से काम चल जाता है। कामायनी में भयानक रस का वर्णन इसी रूप मे मिलता है। भय के तीन प्रसङ्ग काव्य मे मिलते है। पहला प्रलय वर्णन मे, दूसरा युद्ध प्रकरण मे तथा तीसरा रहस्य सर्ग में। तीनो प्रसङ्गो में आलम्बन के वर्णन द्वारा ही कवि ने भयानक रस की व्यञ्जना कराने का प्रयत्न किया है। प्रायः भयानक रस के वर्णन मे कवि चमत्कार प्रदर्शन अधिक करते है किन्तु प्रसादजी ने इस प्रकार की कृत्रिम पद्धति का आश्रय नहीं लिया है। भयानक रस के वर्णन में तुलसी, भूषण आदि कवियों ने सम्बन्धातिशयोक्ति से अधिक काम लिया है जिससे काव्य में अप्राकृतिक तत्त्व का समावेश हो जाता है। प्रसाद ने युद्ध के अवसर पर इसका प्रयोग केवल एक बार किया है।

"बहते विकट अधीर विषम उन्चास वात थे।
मरण पर्व था; नेता आकुलि औ' किलात थे" ॥

अद्भुत रस—अद्भुत रस की सृष्टि मे केवल अद्भुत व्यक्ति या कार्य का वर्णन ही पर्याप्त नहीं होता। रूपकातिशयोक्ति के द्वारा शृङ्गार का आलम्बन कुछ अद्भुत सा प्रतीत होने लगता है किन्तु वहाँ विस्मय नामक भाव केवल सञ्चारी के रूप मे आयेगा, रस रूप मे नहीं। स्मरण रखना चाहिए कि विस्मय* और उत्साह ऐसे भाव हैं जिनका सञ्चरण सभी रसों में हुआ करता है। इसी प्रकार किसी मनुष्य का अद्भुत कार्य तथा व्यक्तित्व विस्मय नामक भाव ही उत्पन्न कर सकता है; रस दशा को नहीं पहुँच सकता। जब किसी लोकरक्षक पात्र की असाधारण शक्ति, बल आदि द्वारा किसी अद्भुत कार्य की सृष्टि होगी तो वहाँ अद्भुत रस की

---

* 'उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषु'। (रसतरंगिणी)

वास्तविक स्थिति मानी जायगी। अद्भुत रस के दो प्रसग कामायनी में मिलते है। प्रथम नटेश के ताण्डव नृत्य में; द्वितीय त्रिपुर-मिलन मे। त्रिपुर-मिलन वाला दृश्य दार्शनिक या मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भले ही महत्त्वपूर्ण हो परन्तु रस दृष्टि से तो तमाशा सा जान पड़ता है। शिव के ताण्डव नृत्य मे भी अद्भुत रस की गम्भीरता वर्तमान नही है। अत उसे भी हम रस-निष्पत्ति की उत्तम-कोटि में नहीं रख सकते; क्योकि उपर्युक्त दोनो प्रसङ्गो में लौकिक या भौतिक व्यापार का आधार नहीं दिखाई पड़ता।

वीर रस—वीरत्व वस्तुत: लौकिक गुण है। लोक के सम्पर्क में आने पर ही उसका उदात्त स्वरूप व्यक्त होता है। आत्म-रक्षा करनेवाला वीर प्रशसनीय हो सकता है पर वीरत्व का आलम्बन नहीं हो सकता। लोक रक्षण मे प्रवृत्त वीर ही वीर-रस का आलम्बन हो सकता है। वीरत्व का लक्ष्य सत्य का सङ्गटन और असत्य का विघटन प्राचीन काल से ही माना गया है। इसलिए वीर रस का शुद्ध प्रवाह तभी होता है जब उत्साह धर्म की ओर उन्मुख हो तथा उसका लक्ष्य अधर्म को मिटा देना हो। उत्साह की अभिव्यक्ति 'केवल युद्ध मे ही नही दया धर्म, दान आदि में भी देखी जाती है। इसलिए वीर-रस के युद्धवीर, दानवीर, धर्मवीर तथा दयावीर चार भेद किये गये है। कामायनी मे किसी एक की भी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं दिखाई पड़ती। दयावीर, दानवीर, धर्मवीर का तो कही पता ही नहीं केवल युद्धवीर का आभास एक स्थल पर दिखाई पड़ता है। वस्तुतः वीररस का समारम्भ लोक-कर्म से होता है। लोकधर्म का पूर्ण विकास कार्य रूप मे प्राचीन महाकाव्यो रामचरित-मानस, रामायण, महाभारत आदि के समान कामायनी मे दृष्टिगोचर नही होता। अत: कामायनी में वीर-रस के पूर्ण विकास का अवसर ही नहीं है

तो वर्णन कैसे हो ? उत्साह भाव की व्यञ्जनाएँ यत्र तत्र दिखाई पड़ती हैं। जैसे जहाँ श्रद्धा मनु को कार्य में व्यापृत करती है वहाँ उसकी उक्तियों द्वारा उत्साह की कुछ व्यञ्जना हो रही है—

यह क्या तुम सुनते नहीं।
"विधाता का मङ्गल वरदान।"
'शक्तिशाली हो विजयी बनो'
विश्व मे गूँज रहा जय-गान।

सङ्घर्ष सर्ग मे युद्ध-वर्णन को देखकर पाठकों को यहाँ वीर-रस का भ्रम हो सकता है। अतः रस-भ्रम का निवारण करना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है।

उत्साह, लक्ष्य और साध्य दोनो की ओर देखनेवाला भाव है। इसलिए वह अन्य भावो से विलक्षण है। उत्साह जिस वस्तु या व्यक्ति की ओर प्रवृत्त होता है, वह तो इसका लक्ष्य या आलम्बन है; पर जिस विचार से प्रवृत्त होता है वह उसका साध्य है। किसी दानी का लक्ष्य दानपात्र होता है और उसका साध्य यश। लक्ष्य व्यक्त रहता है और साध्य अव्यक्त। इसी लिए कहा जा सकता है कि उत्साह के दोहरे आलम्बन होते है—एक व्यक्त और दूसरा अव्यक्त। व्यक्त साधक होता है और अव्यक्त साध्य। परम साध्य अव्यक्त आलम्बन ही होता है इसी कारण कुछ लोग उसे ही उत्साह का वास्तविक आलम्बन मानते है, किन्तु काव्य की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष कार्य व्यक्त आलम्बन द्वारा ही होता है। अतः शास्त्रकारों ने उसी को प्रकृत आलम्बन कहा है। आश्रय और आलम्बन के साथ साध्य को जोड़ देने से उत्साह के स्वरूप का ठीक ठीक बोध हो जाता है। जहाँ उत्साह का साध्य कोई अन्य भाव होता है वहाँ यह उस भाव का अङ्ग बन जाता है। यदि कोई किसी के प्रेम मे उत्साह प्रदर्शित कर रहा हो तो उसका यह

उत्साह शृङ्गार रस का सञ्चारी माना जायगा। कामायनी के सङ्घर्ष सर्ग मे युद्ध के उत्साह का साध्य धर्मरक्षा नहीं प्रत्युत प्रति-हिंसा है। इस प्रतिहिसा या प्रतिशोध के मूल में क्रोध की भावना है। अत. यह उत्साह वीर रस का निष्पादक न होकर रौद्र रस के सञ्चारी रूप मे आया है। वीर रस के वर्णन में कवि योद्धा की तेजस्विता, धीरता, प्रचण्डता, भीषणता आदि का उल्लेख करता है। परन्तु यहाँ मनु की दुर्बलता का वर्णन है।

> "अपनी दुर्वलता मे मनु हॉफ रहे थे।
> स्खलित विकम्पित पद वे अब भी कॉप रहे थे।"

उत्साह में बुद्धि काम करती रहती है, पर क्रोध मे नष्ट हो जाती है। उस समय यदि मनु बुद्धि-रहित न होते तो प्रजा के प्रश्नो का उत्तर अवश्य देते। वे तो क्रोध-वश कॉप रहे थे। उनका पैर भी स्खलित हो रहा था। यदि उक्त प्रसङ्ग का स्थायी भाव उत्साह होता तो वीर रस का उद्रेक होता, परन्तु वहॉ तो दोनो पक्षो का स्थायीभाव क्रोध है। प्रजा के विप्लव पर मनु क्रोधित है और मनु के अत्याचार पर प्रजा। इसलिए इस प्रसङ्ग के मूल मे रौद्र रस है, वीर रस नहीं। उत्साह रौद्र रस के सञ्चारी रूप मे आया है। उत्साह का सञ्चरण सभी रसों में सञ्चारी रूप मे हो सकता है; यहॉ तो रौद्र रस वीर रस का सहकारी ही ठहरा। अत. उत्साह का रौद्र रस के सञ्चारी रूप मे आना किसी प्रकार भी अस्वाभाविक नहीं है।

रौद्र रस के वर्णन में जब तक आलम्बन का चित्रण इस रूप मे न होगा कि वह मनुष्य मात्र के क्रोध का आलम्बन हो सके तब तक वह वर्णन भाव प्रदर्शक मात्र होगा। लोक-पीड़क या क्रूरकर्मा अत्याचारी को सुनकर या देखकर जिस क्रोध का

वर्णन होगा वह रस कोटि का कहा जायगा। मनु स्वप्न तथा सङ्कर्ष सर्ग में लोक-पीड़क रूप में दिखाये गये है। अतः 'कामायनी' के उक्त प्रसग में रौद्र रस की सच्ची अभिव्यक्ति हुई है। इड़ा के ऊपर मनु कृत अत्याचार से प्रजा रुष्ट हो जाती है। प्रकृति का विपर्यय देखकर मनु से उसका कारण पूछती है क्योंकि उस युग में प्रकृति में विपर्यय होना शासक के किसी अपराध या अत्याचार का सूचक समझा जाता था। मनु के उत्तर न देने पर प्रजा विद्रोह करती है। प्रजा के विप्लव को मनु उसकी अकृतज्ञता समझकर रुष्ट हो जाते है। दोनो का क्रोध एक दूसरे के प्रति इतना बढ़ता है कि युद्ध तक छिड़ जाता है। दोनों का अत्याचार एक दूसरे के लिए उद्दीपन का काम करता है। दोनो का एक दूसरे के कार्यों की निन्दा करना, उलाहना देना, कठोर भाषण आदि अनुभाव है। दोनों के हृदयो में उत्पन्न अमर्ष, उत्साह, उग्रता आदि सचारी भाव है। देवशक्तियो को क्रुद्ध, रुद्र नयन को उन्मीलित तथा प्रकृति को कम्पित दिखा कर कवि ने रौद्र रस की तीव्रता बढ़ा दी है।

वात्सल्य रस की व्यञ्जना कामायनी में श्रद्धा-कुमार 'मानव' के प्रसङ्ग में मिलती है। इसकी व्यञ्जना माता-पिता तथा बालक तीनो की उक्तियो द्वारा हुई है। अन्य रसों के समान इसका वर्णन भी संक्षिप्त ही है। श्रद्धा विरह में अत्यन्त दुखी है, निराशा से व्याकुल है, वेदना से विह्वल है, किन्तु 'मानव' की किलकारी सुनते ही सभी उद्वेगजनक भावो को भूल जाती है। कितनी उत्कंठा से धूल-धूसरित बालक को गोद में उठाकर कहती है—

"कहाँ रहा नटखट तू फिरता अब तक मेरा भाग्य बना।
अरे पिता के प्रतिनिधि तू ने भी सुख दुख तो दिया घना।

चंचल तू वनचर मृग बनकर भरता है चौकड़ी कहीं।
मैं डरती तू रूठ न जाए करती कैसे तुझे मना।"

उपर्युक्त पंक्तियो में माँ का हृदय झाँक रहा है। माँ के हृदय मे कवि ने वात्सल्य भाव की मूर्ति दिखाई है। वह बालक को इतना अधिक प्यार करती है कि उसे रूठने भी नहीं देना चाहती। इसी डर से उसे वन में जाने से नहीं रोकती। बच्चे किस प्रकार रूठते हैं, वे कितने नटखट होते है, उनमें कितनी जिज्ञासा भरी होती है, वे अपरिचित स्थानो मे कैसी चेष्टा करते है, पिता या घर के किसी आत्मीय व्यक्ति के अनुपस्थित होने पर बच्चे किस प्रकार उन्हें खोजते हैं, माता के घर से दूर जाने पर बच्चा किस प्रकार कहता है माँ घर चलो, माता के मुख पर रञ्च मात्रा उदासी आने पर बालक किस प्रकार उदास हो जाता है, माँ के चुप हो जाने पर शिशु किस प्रकार उसके मौन होने का कारण पूछता है आदि बालमनोवृत्तियो का स्वाभाविक चित्रण, स्वप्न, निर्वेद तथा दर्शन सर्ग मे कुमार मानव की उक्तियो एव चेष्टाओ द्वारा हुआ है। वात्सल्य रस की पूर्ण व्याप्ति दिखाने के लिए अन्त मे कवि ने श्रद्धा के पुत्र-प्रेम जनित ईर्ष्या से पलायित मनु को भी वात्सल्य भाव से विह्वल कर दिया है—

"यह कुमार मेरे जीवन का उच्च अंश कल्याण कला।
कितना बड़ा प्रलोभन मेरा हृदय स्नेह बन जहाँ ढला।"

महाकाव्य मे रसो पर विचार करते समय हमारे प्राचीन शास्त्रकारो ने बताया है कि अङ्गी रस के अतिरिक्त अन्य सभी रसो को गौण रूप में आना चाहिए। इस नियम के भीतर उनका निहित सिद्धान्त था मानव जीवन की पूर्णता के लिए सभी प्रमुख प्रवृत्तियों का समावेश करना। उनकी दृष्टि में महाकाव्य का साध्य था

मानव जीवन का पूर्ण स्वरूप उपस्थित करना। इसकी पूर्ति के लिए अन्य अनेक नियम—वस्तु नेता, रस आदि साधन थे; अन्यथा नवो रसों का कविता-संग्रह भी महाकाव्य कहा जाता। यदि साधन की कमी रहते हुए भी साध्य की पूर्ति हो जाय तो कर्ता को उसके लिए दोषभागी नहीं प्रत्युत महाभागी मानना चाहिए। वीभत्स रस जैसे एकाध रस की अनुपस्थिति रहते हुए भी क्या कोई कह सकता है कि कामायनी में मानव जीवन का पूर्ण चित्र नहीं है। अब हमे यह देखना चाहिए कि कवि को बीभत्स रस की सृष्टि का अवसर ग्रन्थ मे मिल सकता था या नहीं।

वीभत्स रस की व्यञ्जना प्रायः खून, पीप, मवाद, मज्जा आदि के वर्णन द्वारा दिखाई जाती है; परन्तु कोई पात्र भी ऐसा हो सकता है जिसके प्रति घृणा की व्यञ्जना कराई जाय। स्मरण रखना चाहिए कि व्यक्तिगत घृणा रस दशा को नहीं प्राप्त हो सकती। उससे भावप्रदर्शन मात्र होगा। लोक-गत घृणा से रस दशा की प्राप्ति हो सकती है। यदि समाज में कोई व्यक्ति कन्या बेच कर उस द्रव्य का उपयोग करे तो समाज मे वह घृणित समझा जायगा। यदि प्रसाद जी चाहते तो कामायनी में इस प्रकार के वर्णन का अवसर मनु की ईर्ष्यावाले अंश से निकाल सकते थे; दूसरे युद्ध वर्णन के अवसर पर वीभत्स रस की अभि-व्यक्ति के लिए पूरा स्थान था। इन स्थलो पर वीभत्स रस के वर्णन से काव्य की साधना भूमि का विस्तार तो हो जाता किन्तु उसके साध्य में कोई सौन्दर्य न बढ़ता।

हास्य के स्पन्दन बिना महाकाव्य मे कुछ खोया सा जान पड़ता है परन्तु इसका एकदम अभाव ही हो ऐसा हम नहीं कह सकते जैसे विनोद का एक छोटा चित्र मानव की निम्नाङ्कित उक्तियो में देखिए।

"मै रूठूँ माँ और मना तू कितनी अच्छी बात कही।
ले मै सोता हूँ अब जाकर, बोलूँगा मै आज नहीं।
पके फलों से पेट भरा है नींद नहीं खुलनेवाली॥"

पर पाठको को यह स्मरण रखना चाहिए कि यह विनोद वात्सल्य के सञ्चारी रूप मे आया है, स्वतन्त्र रूप मे नहीं। प्राचीन शास्त्रकारो के कथनानुसार*—स्थायी भाव भी अन्य रसों मे सञ्चारी रूप में आ सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार हास्य सामान्य जीवन मे भी शृङ्गार के सञ्चारी रूप मे आता ही है। साराश यह कि उपर्युक्त विनोद को पाठक हास्य रस समझने का भ्रम न करे।

कामायनी मे हास्य रस का स्वतन्त्र रूप मे अभाव देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि प्रसादजी मे हास्य रस की योजना करने की क्षमता ही नहीं थी; क्योकि उनके नाटको मे हास्यरस का सफल प्रयोग यह स्पष्ट बतला रहा है कि वे हास्यरस का उचित और उद्देश्यगर्भित प्रयोग जानते थे। कदाचित् महाकाव्य का प्रकृत गाम्भीर्य बनाए रखने के लिए उन्होने हास्य रस का प्रयोग नहीं किया। किन्तु जो समर्थ कवि हैं वे हास्य मे भी गाभीर्य ला सकते हैं। तुलसी और सूर इसके पर्याप्त उदाहरण है। मानस मे नारद तथा भ्रमरगीत मे उद्धव के प्रसङ्ग मे सोद्देश्य हास्य का प्रयोग हुआ है और काव्य का प्रकृत गाम्भीर्य भी नष्ट नहीं होने पाया है। यदि प्रसादजी चाहते तो कामायनी मे शृङ्गार

---

* स्थायिनोऽपि व्यभिचरन्ति हास: शृंगारे रति: शान्तकरुणहास्येषु भयशोकौ करुणशृङ्गारयो: क्रोधो वीरे जुगुप्सा भयानके उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषु (रसतरङ्गिणी)।

रस के सहकारी रूप में हास्य रस का प्रयोग कर सकते थे, जैसा कि नाटको में उन्होने किया है। पता नहीं, नाटकों में हास्य रस का रास्ता निकालकर वे कामायनी मे क्यों भूल गये।

रस के किसी अवयव द्वारा रसोद्रेक—रस-व्यञ्जना में यह आवश्यक नहीं होता कि रस के सभी अवयवों का कथन किया ही जाय। जिन अङ्गो का कथन नहीं होता उनका स्वभावतः अनुमान कर लिया जाता है। कुछ रस ऐसे होते हैं जिनमें रस-व्यञ्जना के लिए केवल आलम्बन का ही यथावत् वर्णन पर्याप्त हो जाता है। इसी प्रकार कहीं सञ्चारी भावों द्वारा और कहीं अनुभावो द्वारा भी रस की व्यञ्जना हो जाती है। शान्त रस के प्रसङ्ग मे यह दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार अकेले उद्दीपन भी रसोद्रेक करने में समर्थ होता है। लज्जा सर्ग में लज्जा नामक सञ्चारी भाव का वर्णन इतना विशद तथा तीव्र है कि उससे शृङ्गार का उद्रेक हो जाता है। भयानक रस के प्रसङ्ग में भी यह कहा जा चुका है कि किस प्रकार अकेले आलम्बन का यथातथ्य वर्णन रस निष्पत्ति मे समर्थ हो सकता है।

कामायनी मे कही कहीं भावोदय तथा भाव शान्ति के उदाहरण भी मिलते है। भावोदय तथा भावशान्ति की स्थिति वस्तुतः एक ही प्रकार की होती है। क्योकि बिना किसी भाव के शान्त हुए किसी अन्य भाव का उदय नहीं हो सकता। उसी प्रकार भावशान्ति के अनन्तर भी किसी न किसी भाव का उदय ही होता है। वस्तुतः इन दोनो को रीतिशास्त्र के अनुसार अलग-अलग दिखाना मात्र उद्देश था। इसलिए दोनो में यह भेद किया गया है कि जहाँ भाव के उदय मे अधिक चमत्कार हो वहाँ भावोदय और जहाँ भाव की शान्ति में अधिक चमत्कार हो वहाँ भावशान्ति होती है। भावोदय का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है :—

"माँ—फिर एक किलक दूरागत, गूँज उठी कुटिया सूनी।
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कण्ठा दूनी॥
लुटरी खुली अलक रज धूसर बाहें आकर लिपट गईं।
निशा तामसी के जलने को धधक उठी बुझती धूनी।"

यहाँ बालक 'मानव' का माँ शब्द सुनकर श्रद्धा की विरह-वेदना शान्त हो जाती है। उसके विरह-वेदना-भरे हृदय में पुत्र-प्रेम की उत्कण्ठा अपना स्थान बना लेती है। कहना चाहें तो कह सकते है कि दुःख के स्थान पर सुख उत्पन्न हो जाता है। पुत्र-प्रेम की उत्कण्ठा के उदय में अधिक चमत्कार होने के कारण यहाँ भावोदय मानना ही समीचीन है। स्मरण रखना चाहिए कि किसी भाव या भावसधि की अनुभूति रसरूप ही मानी जायगी; हाँ किसी भाव का रस दशा तक पहुँचना भले ही न मानें; उसे भावदशा तक ही रखें। पर अनुभूति सबकी रस रूप मे ही होगी यह बात दूसरी है कि उसका आस्वाद उद्वेग जनक हो।

रस की वास्तविक भूमि सामाजिक है। इसी कारण रस दशा की पूर्णता समाजगत-मङ्गलमूलक नीति, आचार आदि औचित्यो की संरक्षण स्थिति मे ही मानी जाती है। अतः काव्य मे जहाँ रसाभिव्यक्ति मे नीति, सदाचार या औचित्य का उल्लङ्घन हुआ वहाँ रसाभास उत्पन्न हो जाता है। अविचार दशा मे क्षण भर के लिए उनके द्वारा रस का आभास भले ही हो जाय पर वह रस की भाँति आस्वाद्यमान नही हो सकता। शृङ्गार रस में निज पति के अतिरिक्त अन्य पुरुष मे या अनेक पुरुषो में नायिका की रति अथवा दुःशीला या व्यभिचारिणी स्त्री पर किसी पुरुष की रति, रौद्ररस मे गुरु, माता, पिता आदि पूज्यो पर क्रोध, हास्य रस में सम्माननीय व्यक्तियो का आलम्बन, करुण रस मे विरक्त पुरुष का आलम्बन, भयानक मे उत्तम पात्र मे भय, अद्भुत रस

में ऐन्द्रजालिक विस्मय आदि रसाभास है। इड़ा और मनु का प्रेम-प्रसङ्ग, मनु की ईर्ष्या का प्रसङ्ग ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही सारगर्भित हों पर रस दृष्टि से तो वे रसाभास कोटि मे ही रखे जायँगे। इड़ा और मनु के प्रेम प्रसङ्ग मे रतिभाव स्थायी-भाव की कोटि को पहुँच जाता है किन्तु शृङ्गार रस की कोटि को नहीं पहुँचता। इसी प्रकार मनु की ईर्ष्या सहृदय जनो को अनुचित प्रतीत होने के कारण रसाभास ही के अन्दर आयेगी।

भावव्यञ्जना में द्रष्टव्य बातें—किसी कवि या कृति पर विचार करते समय उसकी भावव्यञ्जना का विवेचन अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण होता है। भावव्यञ्जना में तीन बातें द्रष्टव्य होती है—१—भाव का विस्तार, तीव्रता तथा सूक्ष्मता। इस दृष्टि से विचार करते समय ज्ञात होता है कि कामायनी का भावक्षेत्र उतना विस्तृत नहीं है जितना मानस का, हाँ यह दूसरी बात है कि कामायनी में जितने भावो का वर्णन हुआ है उससे मानव जीवन का पूर्ण चित्र उतर सकता है। कामायनी के भावों की तीव्रता असन्दिग्ध है। भावो को तीव्र करने के लिए कवि ने बड़ी ही रम्य भूमिकाएँ बाँधी हैं, अत्यन्त सुन्दर वातावरण सजाये है; व्यञ्जना द्वारा भाव-वर्णन में मार्मिकता का समावेश कर तथा लक्षणा द्वारा गोचरता उत्पन्न कर उसमें असीम प्रभविष्णुता भरी है। भावो की सूक्ष्मग्राहकता भी अपरिमेय है। लज्जा नामक भाव का इतना सूक्ष्मवर्णन किसी भी दूसरे काव्य में नहीं दिखाई पड़ता।

कामायनी मे शास्त्रीय दृष्टि से सबसे खटकनेवाली बात है स्वशब्दवाच्यत्व दोष जो कई स्थलों पर मिलता है—

"वे बोले सक्रोध मानसिक भीषण दुख से।
देखो पाप पुकार उठा अपने ही मुख से।

× × × ×

प्रकृति आज उत्पात कर रही, मुझको वस सोने देना।
कहकर यों मनु प्रकट क्रोध मे, किन्तु डरे से थे मन में।"

उपर्युक्त पक्तियों मे क्रोध, डर शव्द से स्वशव्दवाच्यत्व दोष आ गया है। स्वशव्दवाच्यत्व दोष यह व्यक्त करता है कि कवि अपनी भावव्यञ्जना के प्रति अपडर रखता है। उसे यह शङ्का वनी है कि शायद पाठक मेरे भावो को न समझते हो। इसी लिए वह रसवाची शव्दो द्वारा उस रस या भाव का नाम वताकर अपनी निर्वलता या कमी को पूरा करना चाहता है। जैसे किसी व्यञ्जन का नाम मात्र लेने से उसके आस्वाद की अनुभूति या प्रतीति नहीं हो सकती तद्वत् किसी भाव या रस का नाम लेने से उसकी अनुभूति या प्रतीति नहीं हो सकती।

वह नारी के रूप में आती है वह काम, वासना आदि वृत्तियों को लिये हुए है। जहाँ वह प्रतीक रूप में आती है वहाँ हृदय की सभी उदात्त वृत्तियों की प्रतिमा उपस्थित करती है। आशा के उदय होने के पश्चात् मानव-हृदय में श्रद्धा का आविर्भाव होता है। यह अत्यन्त विशुद्ध आत्मवृत्ति है; किन्तु मानव इस उच्च वृत्ति को पूर्ण रूप मे नहीं ग्रहण कर पाता। इसके साथ अपने मन और बुद्धि की मलिनता का आरोप कर लेता है। फलतः काम और वासना की सृष्टि होती है।

अब यहाँ पुरुष और नारी को लेकर कामायनी का मनोवैज्ञानिक चित्रण दो भागों मे बँट गया है। पुरुष में काम और वासना वृत्तियों का उद्भव होता है। नारी इसमे निष्क्रिय रहती है, किन्तु मानव के काम और वासना के सम्पर्क में आने पर उसमे लज्जा का आविर्भाव होता है। लज्जा नारी की वृत्ति है। काम का अर्थ होता है 'इष्टविषयाभिलाषः' अर्थात् इष्ट विषय को प्राप्त करने की इच्छा। वासना का तात्पर्य है विषय मे अभिनिवेश—इच्छा के पश्चात् उस वस्तु मे अभिनिवेश होता ही है। काम और वासना दोनों वृत्तियाँ इसी रूप में मनु के हृदय में उत्पन्न होती है। इसी कारण श्रद्धा के पश्चात् काम और वासना नामक सर्गों की योजना हुई है।

वासना के पश्चात् लज्जा नामक सर्ग आता है। लज्जा का अर्थ होता है 'स्वच्छन्द क्रियासङ्कोच'। श्रद्धा नारी रूप मे अभी मुग्धावस्था में है; इसलिए पुरुष के निकट उसमे लज्जा का होना स्वाभाविक ही है। नारी के जीवन मे लज्जा धात्री का काम करती है। वह उसे गौरवमहिमा सिखलाती है। जो ठोकर लगनेवाली है, उसे धीरे से समझाती है। वह अनुरागरूपिणी है। उसका दूसरा कार्य है 'चञ्चल-किशोर-सुन्दरता' की रक्षा करना।

वासना के उपरान्त पुरुष की ओर से कर्म नामक प्रकरण का आरम्भ होता है। वासना का परिणाम होता है अधिकाधिक तृष्णा की वृद्धि और उसकी तृप्ति के लिए पुरुष कर्म में प्रवृत्त होता है। इस कर्म का स्वरूप हिंसात्मक है। जैसा प्रसाद जी ने मनु के कर्मों का स्वरूप कर्म नामक सर्ग मे रखा है। जब हिंसात्मक कर्मों के द्वारा मनुष्य स्व का विस्तार करता है तो उसमे बाधक वस्तुओ के साथ ईर्ष्या-द्वेष आदि का समावेश होना स्वाभाविक है। इसी लिए कामायनी मे कर्म के पश्चात् ईर्ष्या का सर्ग आता है। मनु अपने अधिकारो पर किसी प्रकार की रोक नहीं चाहते। वे प्रकृति पर अपना असीम अधिकार स्थापित रखना चाहते हैं। इस मनोभावना मे बाधा डालनेवाले के प्रति मनु के हृदय मे ईर्ष्या उत्पन्न होती है। वे श्रद्धा से कहते हैं—

"तुम दानशीलता से अपनी
बन सजल जलद वितरो न विन्दु।
इस सुख-नभ मे मैं विचरूँगा
बन सकल कलाधर शरद इन्दु॥"

मानव अपनी अहम् भावना की तृप्ति के लिए बुद्धिक्षेत्र में प्रविष्ट होता है। मनु भी इसी बुद्धिक्षेत्र में प्रवेश करते हैं। इडा नामक सर्ग इसी बुद्धि का प्रतीक है। प्रसाद जी ने इड़ा को एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी प्रदान किया है। वह इस रूप मे श्रद्धा की होड़ में उपस्थित हुई है। श्रद्धा को खोकर मनु बुद्धिवादी हो गये है और बुद्धि की सहायता से वे साम्राज्य-स्थापन की चेष्टा करते हैं। यही तक नहीं वह स्वय बुद्धि-अधिष्ठात्री इड़ा पर अधिकार करना चाहते है, जो वास्तव में नियम का व्यभिचार है। व्यभिचार के कारण मनुष्य पर नाना प्रकार की विपत्तियाँ आती हैं, जैसा कि हम मनु के जीवन में देखते है।

मनु के जीवन मे विपत्ति आने पर अदृष्ट में श्रद्धा उन विपत्तियो का स्वप्न देखती है। श्रद्धा ऐसी सती नारी मे वह शक्ति है, कि वह अदृष्ट को देख सकती है और अपने परित्राण का हाथ पुरुष की सहायता के लिए फैला सकती है। प्रतीक रूप मे उसकी यह व्यञ्जना है कि दु:ख मे श्रद्धा वृत्ति सदा जागरूक रहती है। कामायनी के स्वप्न सर्ग में यही दो बातें दिखाई गई है।

बुद्धि का अतिवाद सङ्घर्ष मे परिणत होता है इसी अतिवाद के कारण मनु के जीवन मे भी सङ्घर्ष उत्पन्न हुआ। प्रकृति के साथ इस सङ्घर्ष मे मानव सफल नहीं हो सकता। बुद्धि के जाल मे पड़कर नाना प्रकार का कर्म करने पर भी मानव को जब आनन्द के स्थान पर बेचैनी, विकलता तथा अशान्ति ही मिलती है तब उसे निर्वेद उत्पन्न होता है। निर्वेद के पश्चात् वह द्वैत बुद्धि से पराङ्मुख हो जाता है और, तब उसकी भावना आत्ममुखी हो जाती है और तब उसे 'विचारप्रयोजकं ज्ञान दर्शन' प्राप्त हो जाता है। आत्मदर्शन के पश्चात् उसे जीवन का रहस्य, जिसमे कर्म, ज्ञान तथा भावना की समरसता निहित है, ज्ञात हो जाता है और जीवन का रहस्य खुलने पर उसे 'निरुपाधिकेष्टत्व आनन्दम्' प्राप्त हो जाता है। इसी कारण कामायनी के अन्तिम तीन सर्ग क्रमशः दर्शन, रहस्य और आनन्द है।

किसी सर्ग के अन्तर्गत उसके शीर्षक सम्बन्धी भाव का ही नहीं वरन् तत्सम्बन्धी सभी भावनाओ का समावेश किया गया है। जैसे चिन्ता सर्ग मे चिन्ता के अतिरिक्त तज्जन्य अनुभावों—विस्मृति, वैवर्ण्य, जड़ता आदि—का भी उल्लेख है। आशा सर्ग में तत्सम्भूत अन्य भावनाएँ विश्वास, कुतूहल, जीवन के प्रति अनुराग, सहानुभूति समवेदनशीलता, माधुर्य, आकाक्षा

आदि भी वर्णित हैं। श्रद्धा-सर्ग में श्रद्धा सम्बन्धी दया, माया, ममता, माधुर्य, उत्साह, सान्त्वना, आत्मसमर्पण, मानवता की मङ्गलकामना आदि वृत्तियो का उल्लेख है। इसी प्रकार अन्य सर्गों मे भी यही क्रम चलता है।

प्रसाद जी ने कामायनी मे केवल व्यक्तिगत मनस्तत्त्व के विकास की विवेचना नही की है वरन् सामाजिक मनोविज्ञान का भी समयानुकूल विश्लेषण किया है, जैसे सारस्वत प्रदेश में जब समृद्धि उच्छ्वसित हो उठती है तब विप्लव और सङ्घर्ष सङ्घटित हो जाते है। जब किसी समाज का अग्रणी अपने बनाये नियमो का पालन नहीं करता तो उसके अनुयायियों की श्रद्धा ही उसके प्रति नही घटती बल्कि उनके द्वारा एक विप्लव भी खड़ा हो जाता है। जैसा सारस्वत प्रदेश की प्रजा ने उच्छृङ्खल-नियामक मनु के विरुद्ध किया। अब देखना यह चाहिए कि इस काव्यगत मनोवैज्ञानिक तत्त्व के मूल मे प्रसाद जी का क्या उद्देश्य है। प्रसाद जी की दृष्टि मे बहिर्जगत् अन्तर्जगत् की लीला का विस्तार है। वाह्य जगत् में जो कुछ हो रहा है वह हमारे भीतर का ही प्रतिबिम्ब है। ऐतिहासिक घटनाएँ हमारे मनोवैज्ञानिक भावनाओ की क्रिया मात्र है। वे ऐतिहासिक सत्य का अर्थ घटना नहीं करते; ऐतिहासिक तथ्य के अन्वेषण में वे तिथिक्रम, घटनाक्रम, ऐतिहासिक पात्रो के ब्योरेवार वर्णन से ही सन्तुष्ट नहीं होते वरन् वे घटनाओ तथा चरित्रो को मनोविज्ञान की कसौटी पर कसते है—उनके अन्तर्गत आत्मा की अनुभूति देखना चाहते है। मनोविज्ञान की कसौटी पर जो घटना या पात्र खरा नही उतरता वह उनकी दृष्टि मे सत्य होते हुए भी स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या में परिणत हो जाता है किन्तु जो घटना मनोविज्ञान तथा जो पात्र आत्मा की अनुभूति से पूर्ण है वह मानवता की चिरस्थायी

वस्तु बन सकता है। उसी की अभिव्यक्ति बार-बार भावी घटनाओ तथा पुरुषो के रूप में हो सकती है।

प्रसाद जी ने मनु और श्रद्धा सम्बन्धी उन्हीं वृत्तो तथा पात्रों को ग्रहण किया जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ठीक जान पड़े। इसी लिए मनु के बुद्धिवाद का पतन आज भी दिखाई पड़ रहा है। श्रद्धा-जैसी सती स्त्रियाँ आज भी न जाने कितने घरों मे आनन्द की सृष्टि करते हुए मनु जैसे स्वच्छन्द प्रवृत्तिवाले पतियो का निस्तार कर रही है। मनु जैसे उच्छृङ्खल नियामक के शासन मे आज भी विप्लव तथा सङ्घर्ष मचा हुआ है। प्रसाद जी ने कथा तथा चरित्र को मनोविज्ञान से अनुप्राणित करत हुए स्थान-स्थान पर जो मनोवैज्ञानिक सत्य कामायनी में रखा है वे कथा तथा चरित्र से मेल खाते हुए स्वतन्त्र रूप से भी अत्यन्त सुन्दर है। ऐसे मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त कालिदास, तुलसी और शेक्सपियर जैसे महाकवियों मे ही मिलते है। उसके लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा।

"बन जाता सिद्धान्त प्रथम फिर पुष्टि हुआ करती है।
बुद्धि उसी ऋण को सबसे ले सदा भरा करती है।"
"मन जब निश्चित सा कर लेता कोई मत है अपना।
बुद्धि दैवबल से प्रमाण का सतत निरखता सपना।"
"पवन वही हिलकोर उठाता वही तरलता जल में।
वही प्रतिध्वनि अन्तंतम की छा जाती नभ-तल में।"

मन मे जब कोई बात बैठ जाती है तो बुद्धि उसी के अनुसार प्रमाण ढूँढ़ा करती है*। जो जिस भाव मे रमा करता है, उसी के

---

* "Will is the stout blind man that holds
The lame reason on his shoulders who can but see"
Schopen hauer.

अनुसार उसे सारा संसार दिखाई पड़ता है। अर्थात् इच्छा के अनुसार बुद्धि तथा भाव हो जाते है। इस प्रकार सत्य छिप जाता है। बुद्धि द्वारा लाख प्रमाण इकट्ठा करने पर भी वह सिद्धान्त स्थायी नहीं हो सकता। ऐसे मनोवैज्ञानिक सत्यो को अर्वाचीन तथा प्राचीन दृष्टिवाले सभी लोग मानते है। इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक-सत्य आधुनिक हिन्दी कवियो में कम मिलेंगे।

इसी प्रकार रहस्य नामक सर्ग मे कर्म. इच्छा तथा बुद्धि का समन्वय मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत ही सुन्दर हुआ है। मनो-वैज्ञानिक दृष्टि से उसका तात्पर्य यह है कि इच्छा को आँख नही होती, बुद्धि को पैर नहीं होता तथा कर्म अकेले अहं तथा दम्भ का उत्पादक है। यदि तीनो हृदय द्वारा मिले रहे तो मानव-जीवन सुचारु रूप से सञ्चालित हो अपने साध्य की प्राप्ति सहज ही मे कर सकता है। कामायनी में कवित्व-रहित कोरा मनो-विज्ञान कहीं नहीं है। उदाहरणार्थ लज्जा नामक सर्ग को लीजिए। उसमें मनोविज्ञान की बाहरी तथा भीतरी क्रियाये इतने कवित्वपूर्ण ढङ्ग से वर्णित हैं कि उनमें मनोविज्ञान की शुष्कता कहीं भी नहीं परिलक्षित होती।

कामायनी की मनोवैज्ञानिक रूपकात्मकता भी अपने ढङ्ग की अपूर्व है। पाठक इसके मनोवैज्ञानिक प्रतीकों को आमुख मे ही पा जाने के कारण किसी प्रकार की उलझन में नहीं पड़ते। कामायनी की रूपकात्मक व्यञ्जना मन की उलझन को सुलझाती हुई अन्त में यह बतलाती है कि आनन्द की प्राप्ति किस प्रकार श्रद्धा द्वारा हो सकती है। कैवल्य केवल बुद्धि से नहीं प्राप्त हो सकता। उसके लिए श्रद्धा का संयोग परम आवश्यक है। श्रद्धा और इड़ा वस्तुतः मन की दो शक्तियों या वृत्तियों के रूप में गृहीत हैं।

एक का पथ आत्मोन्मुखी है; आनन्द धाम तक पहुँचानेवाला है। दूसरे का पथ अनात्मोमुखी है; विप्लव-सङ्घर्ष में डालनेवाला है। जब तक मन (मनु) बुद्धि (इड़ा) के व्यभिचार मे फँसा रहता है तब तक वह श्रद्धा से अयुक्त रहता है और जब तक वह श्रद्धा से अयुक्त रहेगा तब तक उसमें आस्तिक भाव नहीं जग सकता। विना आस्तिक भाव जगे शान्ति नहीं मिल सकती और शान्ति-रहित को आनन्द कहाँ? "अज्ञश्च अश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति" अर्थात् श्रद्धा-रहित पुरुष में कभी विश्वास या मतैक्यता नहीं आ सकती। इस प्रकार सदा वह संशय-ग्रस्त होकर नाश की ओर प्राप्त होता रहता है। जब तक मनु का मन श्रद्धायुक्त रहता है तब तक उनका कार्य सात्त्विक होता है और जहाँ से वे श्रद्धा-रहित होते है, वहीं से वे अधोगति को प्राप्त होने लगते हैं।

रूपकात्मक व्यञ्जना के लिए कवि ने प्रधान पात्रों का द्विविध रूप रखा है; परन्तु दूसरा रूप (अप्रस्तुत या व्यंग्य) उन पात्रो के चरित्र और स्वभाव के अनुकूल है, दूसरे कथा की शृङ्खला को कहीं नहीं तोड़ता। मनु जहाँ तक मन के प्रतीक है वे गीता* के अनुसार अत्यन्त दुर्निग्रही तथा चञ्चल प्रकृति के दिखाये गये है। मन की स्वाभाविक वृत्ति के अनुसार स्वार्थ-लिप्सा तथा आत्म-मोद में उनकी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। अन्त मे श्रद्धा द्वारा ही उनको शान्ति मिलती है। मनु का यह प्रतीकात्मक स्वरूप उनके स्वभाव तथा सस्कार के मेल में भी बैठ जाता है। इड़ा जहाँ तक बुद्धि की प्रतीक है वह मनु (मन) को प्रलोभन देकर 'जाल में फँसाती है। मनु उसे वश मे करना चाहते है पर वह होती नहीं। परिणाम में विप्लव, सङ्घर्ष तथा अशान्ति होती है। श्रद्धा को

---

* 'मनो हि दुर्निग्रहं चलं' ।—गीता ।

हृदय का प्रतीक बनाने के लिए उसमें सेवा, दया, माया, ममता, उदारता, सहानुभूति, आत्मसमर्पण, त्याग, क्षमा आदि हृदय की उदात्त वृत्तियों का सङ्कलन किया गया है।

कामायनी की रूपकात्मक महत्ता या विशेषता समझने के लिए पद्मावत की रूपकात्मकता से इसकी तुलना अपेक्षित है। पद्मावत में ऐतिहासिक पक्ष गौण तथा रूपकात्मक (आध्यात्मिक) पक्ष प्रधान हो गया है अर्थात् आध्यात्मिक तत्त्व ऐतिहासिक तथ्य को दबा देता है। परन्तु कामायनी की मनोवैज्ञानिक रूपकात्मकता से उसका ऐतिहासिक तथ्य दबता हुआ नहीं दिखाई देता। साध्यापेक्षित तत्कालीन सभी ऐतिहासिक मार्मिक घटनाएँ तथा प्रमुख पात्र आ गये है। पद्मावत का रूपकात्मक पक्ष उसकी कथा तथा पात्रो को अलौकिक तथा अप्राकृतिक बना देता है। परन्तु कामायनी की रूपकात्मकता उसकी ऐतिहासिकता को पुष्ट, प्राकृतिक तथा विश्वसनीय बनाती है। जायसी के समान प्रसाद में कहीं प्रस्तुत और अप्रस्तुत मे चपला नहीं है। कामायनी मे प्रतीको की एकरूपता का जैसा सुन्दर निर्वाह हुआ है वैसा पद्मावत मे नहीं। उसमें रत्नसेन कहीं जीवात्मा के रूप मे दिखाई पड़ता है तो कभी परमात्मा के रूप में। सूफी पद्धति पर पद्मावती को ईश्वर रूप मानकर रत्नसेन उपासक के रूप मे लिया गया है, पर उसका प्रभाव तथा ऐश्वर्य पद्मावती से बढ़ गया है जो प्रतीक की दृष्टि से अनुचित है, जैसे विवाह के उपरान्त रत्नसेन को सूर्य और पद्मावती को चन्द्र-रूप मे रखना। लौकिक दृष्टि से तो यह ठीक है पर प्रतीक का निर्वाह बिगड़ गया है। कामायनी में मनु, श्रद्धा तथा इड़ा सदा कवि के अभिप्रेत प्रतीक के ही अर्थ मे दिखाई पड़ते है। कामायनी में अप्रस्तुत की व्यञ्जना, मूल घटनाओ तथा मुख्य पात्रो द्वारा होती है। जायसी के समान प्रसाद कहीं भी अप्रस्तुत

को इतनी दूर तक नहीं बढ़ा ले जाते कि प्रस्तुत पक्ष बिल्कुल छूट जाय।

"तुम्ह सों कोई न जीता, हारे वररुचि भोज।
पहिले आपु जो खोवै करै तुम्हार सो खोज॥"

मे वररुचि तथा भोज का अर्थ आध्यात्मिक पक्ष में तो लग जाता है पर लौकिक पक्ष में नहीं लगता। कहने की आवश्यकता नहीं कि कामायनी मे ऐसी बेमेल उक्ति एक भी नहीं है जो प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों अर्थों मे न लगे। पद्मावत में जहाँ कहीं ज़रा भी आध्यात्मिक संकेत का अवसर मिला है, कवि ने उसे हाथ से जाने नहीं दिया। प्रसादजी मे यह बात नहीं पाई जाती। उनके कहानी-क्रम में आदि से अन्त तक एक रीति की रक्षा हुई है। पद्मावत में वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ दोनो दो दिशाओं मे जाते है। परन्तु कामायनी मे दोनो दो होते हुए भी एक साथ एक ही दिशा की ओर चलते है। पद्मावत मे नागमती जैसी परिणीता पतिव्रता स्त्री को दुनिया के गोरखधन्धो या माया का प्रतीक मानना बहुत अनुचित सा जान पड़ता है। कामायनी मे इस प्रकार का प्रतीकात्मक अनौचित्य एक स्थान पर भी नहीं दिखाई पड़ता। रूपकात्मक दृष्टि से कामायनी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके पात्रो के नाम भी प्रतीकात्मक अर्थ की व्यञ्जना करते हैं।

———

कामायनी का दार्शनिक तथ्य

किसी भी ग्रन्थ का साध्य उसके उपक्रम, अभ्यास, अपूर्वता तथा उपसंहार के आधार पर निर्दिष्ट किया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार सर्वप्रथम कामायनी के आरम्भ पर विचार करना चाहिए। बुद्धिवाद के विरोध का किञ्चित् आभास ग्रन्थ के आरम्भ मे ही मिलता है। मनु पिछली बाते सोचते-सोचते शिथिल या निराश हो जाते है। यह चिन्ता, बुद्धि या मति का ही परिणाम है। यहाँ मनु की वृत्ति आत्मोन्मुखी नहीं, विषयोन्मुखी है। वे आत्मा की पूर्णता वहिर्जगत् मे खोजते हैं। उन्हे यह ज्ञात नहीं कि बाहर भीतर आनन्दघन शिव के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं। सब विपयों में, सब स्थितियो मे जहाँ तक मन की गति हो सकती है वहाँ आत्मानन्द प्रतिष्ठित है। प्रलय की स्थिति मे उस निर्जन प्रदेश मे अपने को एकाकी पाकर मनु अत्यन्त दुखी हैं। श्रद्धा आकर समरसता के सिद्धान्त-द्वारा मनु का दुःख कम करती है। समरसता या आनन्दवाद का हल्का पुट यही सर्वप्रथम मिलता है :—

दुःख की पिछली रजनी बीच,
विकसता सुख का नवल प्रभात।
एक परदा यह झीना नील,
छिपाये है जिसमे सुख गात॥
नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण जलधि समान।
व्यथा से नीली लहरों बीच,
उमड़ते सुख मणिगण द्युतिमान॥

प्रसादजी ने यहाँ स्पष्ट बतलाया है कि सुख या आनन्द की सत्ता ही वास्तविक है; दुःख तो सुख के प्रकाश के लिए आता है। यह दुःख जो अपने भीतर थोड़े समय के लिए आता है; वह केवल सुख का आवरण मात्र होकर। जैसे लहरों के ऊपर फेन छाता है तद्वत् दुःख के ऊपर सुख छाया है। अर्थात् दुःखासभिन्न सुख की सत्ता नहीं। इस प्रकार दुःख-सुख की समरसता का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण ग्रन्थ के उपक्रम मे मिलता है। आगे चलकर कवि ने स्थान-स्थान पर प्रसङ्गानुसार नर-नारी, अधिकार-अधिकारी, शासक-शासित तथा व्यक्ति-समाज मे समरसता के अभाव मे घोर सङ्घर्ष तथा विद्रोह दिखाने का प्रयत्न किया है। नर-नारी के सामरस्य का उदाहरण श्रद्धा और मनु का जीवन है। जब तक दोनो के जीवन मे सामरस्य नहीं था तब तक मनु को इधर-उधर भटकना पड़ा।

"तुम भूल गये पुरुपत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की।
समरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की॥"

सर्वदा इसी समरसता की भूल के कारण उन्हे दुख-दैन्य तथा अशान्ति का सामना करना पड़ा। ज्योंही श्रद्धा-द्वारा मनु के जीवन में सामरस्य आ जाता है त्योंही उनको आनन्दमूर्ति शिव का ताण्डवनृत्य दिखाई पड़ता है। अधिकार-अधिकारी, व्यक्ति-समाज तथा शासक-शासित के सामरस्य का उदाहरण सारस्वत प्रदेश में दिखलाई पड़ता है। व्यक्ति-समाज, शासक-शासित तथा अधिकार-अधिकारी मे समरसता न होने के कारण सारस्वत-प्रदेश में घोर विप्लव उत्पन्न हुआ तथा भयङ्कर संग्राम छिड़ा। अन्त मे शासक मनु को वहाँ से भागना पड़ा। इसी कारण श्रद्धा सारस्वत प्रदेश से जाते समय अपने पुत्र को समरसता का उपदेश देती है—

"सबकी समरसता करें प्रचार,
मेरे सुत ! सुन माँ की पुकार।"

जिस प्रकार लोक मे आनन्द स्थापित करने के लिए व्यक्ति तथा समाज के बीच समरसता की आवश्यकता है तद्वत् एक व्यक्ति के जीवन मे भी आनन्दार्थ उसकी विरोधी वृत्तियों मे समरसता की आवश्यकता है। यह सामरस्य ही का प्रभाव है कि श्रद्धा प्रत्येक स्थिति मे आनन्दित रहती है। मनु उसके अभाव में इधर-उधर भटकते फिरते है। उनका व्यक्तिगत तथा समाजगत जीवन दु:ख-पूर्ण, अशान्त तथा आकुल रहता है। मानव और प्रकृति की समरसत कवि ने अन्तिम तीन सर्गो मे दिखलाई है। श्रद्धा-द्वारा कर्म, ज्ञान और इच्छा का सामरस्य दिखलाकर कवि ने अपने सिद्धान्त को अत्यन्त व्यावहारिक तथा वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार महाकाव्य के भीतर समरसता के सिद्धान्त का बार-बार अभ्यास देखकर यह प्रतीत होता है कि ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय समरसता या तत्प्रसूत आनन्दवाद ही है क्योंकि कवि जिस विपय का प्रतिपादन किसी काव्य मे करना चाहता है उसी को बार-बार दुहराता है।

अब ग्रन्थ की अपूर्वता पर विचार करना चाहिए। शैवागमो के प्रत्यभिज्ञा दर्शन से प्रसादजी ने समरसता का सिद्धान्त लिया है। वहाँ शिव-शक्ति के सामरस्य से उत्पन्न आनन्द तथा उल्लास का वर्णन है। "शिवसूत्रविमर्शनी" मे सामरस्य का सिद्धान्त अधिक आया है; उसका एक उदाहरण देना उचित है :—

"परैव सूक्ष्म्या अमाकलारूपा कुण्डलिनी शक्ति: शिवेन सह परस्पर सामरस्यरूप मथ्यमथ्यकभावात्मकम् सङ्घट्टमासाद्य उत्थिता सति इच्छाज्ञान क्रियाश्रित्य रौद्रित्वम् उन्मुद्रयन्ती वर्णशरीरं

उल्लासयति।" अर्थात् शिव-शक्ति मध्यमध्यक भाव से परस्पर सङ्घटित होकर इच्छा, कर्म, ज्ञान तीनों मे सामरस्य लाकर उल्लास या आनन्द का नवनीत उत्पन्न करते हैं। यह आनन्द बिल्कुल आध्यात्मिक है; परन्तु प्रसादजी के सामरस्य मे शिव और शक्ति का ही परस्पर सामरस्य नहीं प्रत्युत शक्ति की विरोधी वृत्तियों की भी समरसता है। इसलिए 'कामायनी' के आनन्दवाद में आध्यात्मिकता व्यावहारिक हो जाती है। यही उसके सिद्धान्त की अपूर्वता है। दर्शन सर्ग के अन्त मे शिव का ताण्डव नृत्य 'कामायनी' के आनन्दवाद का प्रतीक है। साधारण पाठक को शिव का ताण्डव नृत्य अप्राकृतिक तत्त्व जान पड़ता है परन्तु यथार्थतः यह समरसता के सिद्धान्त की अपूर्वता के लिए रक्खा गया है। समरसता की प्रतीक श्रद्धा का पूर्ण प्रत्यभिज्ञान जब मनु को हो जाता है तभी उनमें समरसता की भावना जगती है और उन्हें शिव का आनन्दपूर्ण ताण्डव नृत्य चारों ओर दिखलाई पड़ने लगता है। सारा विश्व समरस अखण्ड आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है। उस आनन्द को प्राप्त कर मनु को पूर्ण तृप्ति तथा शान्ति मिलती है—उन्हे फिर किसी और वस्तु की इच्छा नहीं रहती। वस्तुत· यही आनन्द का वास्तविक और पूर्ण रूप है। 'यं प्राप्य नेतरम् कांक्षति' जिसको प्राप्त कर किसी इतर वस्तु की आकांक्षा नहीं रह जाती। यथार्थतः ग्रन्थ का उपसहार तो यहीं हो जाता है; परन्तु इसका पूर्ण निर्वाह या समन्वय स्पष्ट करने के लिए प्रसादजी ने अन्तिम दो सर्गों की रचना की है। रहस्य सर्ग मे तो कवि ने मानो मानव-जीवन के आनन्द का रहस्य खोल दिया है। मानव-जीवन की इच्छाएँ जब पूरी हो जाती है तभी आनन्द की प्राप्ति होती है; परन्तु जब तक कर्म, ज्ञान तथा इच्छा मे श्रद्धा द्वारा सामरस्य नहीं उत्पन्न होता तब तक जीवन की इच्छाएँ पूरी

नहीं हो सकतीं और फलतः जीवन आनन्दमय नहीं हो सकता। इसीलिए रहस्य सर्ग में श्रद्धा-द्वारा कर्म, ज्ञान तथा इच्छा का समन्वय दिखाया गया है। अन्तिम सर्ग तो आनन्द नाम से ही अभिहित है; जहाँ 'अह' का 'इदम्' में पूर्णतया पर्यवसान है; पुरुष तथा प्रकृति का पूर्ण सामरस्य है। भेद का पूर्ण अभाव है। जड़ और चेतन सभी समरस है। काव्य के सभी पात्र उस आनन्द मे लीन है—

"शापित न यहाँ है कोई, तापित पापी न यहाँ है।
जीवन वसुधा समतल है, समरस है जो कि जहाँ है॥"

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि कामायनी का साध्य-विषय (श्रद्धामूलक आनन्दवाद है।) इसके दार्शनिक आधार तथा स्वरूप के विवेचन के पूर्व यह जान लेना उचित होगा कि प्रसादजी ने इसे अपनाया क्यो? कामायनी के 'काम' नामक सर्ग में कवि ने इसका उत्तर स्वयं दे दिया है। सच्चिदानन्द शिव के सत् चित् स्वरूप का दर्शन अत्यन्त कठिन है। सत्स्वरूप लोभ से आवृत्त रहता है 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुख' इस यिधान या परदे को हटाने मे सव समर्थ नहीं होते—

सौन्दर्यमयी चञ्चल कृत्रियाँ,
बनकर रहस्य है नाच रही।
मेरी आँखों को रोक वहीं,
आगे बढ़ने मे जाँच रहीं॥

सत्स्वरूप बाह्य सौन्दर्य के परदे मे छिपा है। हिरण्मयी बाह्य-सुन्दरता का आकर्षण इतना तीव्र होता है कि वह दृष्टि को मोह मे बाँध लेता है, आलोक मूर्च्छित हो जाता है, आँखे अन्तः-

सौन्दर्य के दर्शन में बाह्य-सौन्दर्य-भेदन का प्रयत्न करते-करते थक-कर रोने लगती है—आगे बढ़ने ही नहीं पातीं। इस विधान को हटाकर अन्तर्निहित सत्स्वरूप का दर्शन करना किसी रहस्यवादी ही का काम है। शिव का चित्-स्वरूप भिन्न-भिन्नमत-मतान्तरों के आवरण से आवृत है। सभी साधक या दर्शक अपने-अपने पथ या मत से उसका द्वार खोलना चाहते हैं परन्तु जितने दर्शन बनते हैं उतने आवरण चढ़ते जाते है। कोई कुछ कहता है कोई कुछ। इस प्रकार उसका रूप और भी गूढ़ होता जा रहा है—

सब कहते है खोलो खोलो,
छवि देखूँगा जीवनधन की।
आवरण स्वयं बनते जाते,
है भीड़ लग रही दर्शन की॥

ये दर्शन किस प्रकार बनते है इसको भी प्रसादजी ने 'कर्म' नामक सर्ग मे बताया है—

मन जब निश्चित-सा कर लेता,
कोई मत है अपना।
बुद्धि दैव-बल से प्रमाण का,
सतत निरखता सपना॥
सदा समर्थन करती उसकी
तर्कशास्त्र की पीढ़ी।
ठीक यही है सत्य यही है
उन्नति सुख की सीढ़ी॥

सभी मत-मतान्तर तर्क के करों-द्वारा उसका द्वार खोलना चाहते है, परन्तु वह तो तर्क या बुद्धि द्वारा कभी प्राप्त नहीं हो सकता—

सब बातो में खोज तुम्हारी
रट सी लगी हुई है।
किन्तु स्पर्श से तर्क-करो के
बनता छुई-मुई है॥

इन तर्क-जनित भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरो का निराकरण करने में जो समर्थ हो वही चित्-स्वरूप का दर्शन कर सकता है। शिव के आनन्द तत्त्व पर अवगुंठन रहता है। इसलिए वह प्रकाशाप्रकाश रूप मे रहता है। कुछ छिपा और कुछ खुला रहता है। इस अवगुंठन को दूर कर देना कवियो का काम है। कोई कवि कहता है 'घूँघट के पट खोल तोहिं राम मिलैगे भाई' अस्तु, प्रसादजी ने कवि के प्रकृत धर्म के अनुसार ही आनन्द तत्त्व को ग्रहण किया। वे उस आनन्द रूप के ऊपर पड़े हुए अवगुठन को खोलना चाहते है—

चाँदनी-सदृश खुल जाय कहीं
अवगुंठन आज सँवरता सा।
जिसमें अनन्त कल्लोल भरा
लहरो में मस्त विचरता सा॥

इस श्रद्धामूलक आनन्दवाद को अपनाने मे कवि पर वर्तमान युग का भी कुछ प्रभाव पड़ा है। बुद्धिवाद की मरीचिका मे आनन्द-सरोवर की कल्पना करनेवाले बुद्धिवादियों को मृग-सदृश प्रताड़ित होते देख उनको उचित पथ बताने के लिए कवि की आत्मा तड़प उठी है। आनन्द की ओर अग्रसर करनेवाला तत्त्व श्रद्धा है, बुद्धि नही। आनन्द की खोज मे बुद्धि द्वारा मानव ने नाना सुखप्रद वैज्ञानिक यन्त्रो का आविष्कार किया; उनसे उसकी

शक्तियाँ भी बढ़ीं, वह नाना कर्मजालों में फँसा। परन्तु इससे उसे मिला क्या? वैषम्य, सङ्घर्ष, विश्वयुद्ध तथा घोर अशान्ति। अस्तु, कामायनी के आनन्दवाद में आधुनिक युग के आर्त स्वर का प्रत्युत्तर भी व्यंग्य रूप में छिपा है।

कवि-कर्म तथा युग-धर्म की अनुकूलता आनन्दवाद में देखने के पश्चात् अब यह देखना चाहिए कि जीवन से इसका क्या सम्बन्ध है? यह कवि के जीवन की सच्ची अनुभूति है या कल्पना का प्रसाद मात्र। जीवन में प्राय: दो प्रकार के आनन्दवादी देखे जाते हैं। पहले प्रकार के आनन्दवादी विपरीत परिस्थितियों के बीच नाना प्रकार के विघ्नों से पुनः-पुनः प्रताड़ित होने पर भी अपने कार्य तथा उत्तरदायित्व का पूर्ण सम्पादन करते हुए विश्व से तटस्थ हो प्राणि-मात्र के साथ मैत्री भाव रखते हुए आनन्दित रहते है। दूसरे प्रकार के आनन्दवादी वे है जो दायित्वहीन तथा कर्त्तव्यपराङ्मुख होकर आनन्द मे निमग्न रहते है। प्रसाद जी पहले प्रकार के आनन्दवादी थे। दुःखवादियों की तरह उन्होंने संसार की कुत्सा कभी नहीं की। इसी आनन्दवाद का प्रभाव कवि के जीवन पर पड़ा और यही उनके साहित्य में भी साध्य रूप में प्रकट हुआ।

प्रसादजी ने अपने 'रहस्यवाद' नामक निबन्ध मे यह बतलाया है कि जीवन मे यथार्थ वस्तु आनन्द है। ज्ञान से या अज्ञान से मनुष्य उसी की खोज में लगा है। लेखक ने वहीं पर आनन्दवाद की उत्पत्ति वैदिक काल में आत्मवाद से दिखलाकर आनन्द-भावना का सम्बन्ध हमारे संस्कारो से जोड़ा है। प्राचीन आर्य लोग सदैव से अपने क्रिया-कलापो में आनन्द, उल्लास और आमोद के उपासक रहे और आज के भी अन्यदेशीय तरुण आर्य-सङ्घ आनन्द के मूल-संस्कार से संस्कृत और दीक्षित है। आनन्द-

भावना, प्रमोद, प्रियकल्पना, उल्लास आदि प्राचीन काल से ही हमारे व्यवहार्य आचरण थे। इस आनन्द-भावना की प्रेरणा वैदिक काल में आर्यों को इन्द्र के आत्मवाद द्वारा मिली थी। आत्मवाद की प्रतिष्ठा आरम्भिक वैदिक काल में प्रकृति-पूजा या बहुदेव-उपासना के युग में हो चुकी थी जब 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' के अनुसार बहुदेववाद के भीतर से एकेश्वरवाद विकसित हो रहा था। आत्मवाद के प्रचारक थे इन्द्र तथा एकेश्वरवाद के वरुण। आनन्दवादी आत्मवाद का स्वागत आर्यों ने अधिक किया। एकेश्वरवाद की उपासना गौण रूप से स्वीकार की गई। एकेश्वरवाद का प्रचार असीरिया में अधिक हुआ। एकेश्वरवाद मे विवेक पक्ष की प्रधानता थी। आगे चलकर भारत मे भी बुद्धि के आधार पर नये-नये विवेकवादी दर्शनों की रचना हुई। जिसमे संसार दुःखमय माना गया और उससे मुक्त होना परम पुरुषार्थ माना गया। इन दर्शनो में जैन, बौद्ध, सांख्य, कपिल आदि प्रसिद्ध हैं। परन्तु विवेक एवं विज्ञान से आनन्द को अधिक महत्त्व देनेवाले महर्षि अपने सिद्धान्त का परम्परा में प्रचार करते रहे। उपनिषद् मे आत्मा आनन्दस्वरूप माना गया है—'अयमात्मा परानन्दः'। उसके प्रत्यभिज्ञान के लिए जीवन को श्रद्धा द्वारा आनन्दमय बनाने का आदेश किया गया। वे कहते थे—

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेव एष वृणुते तेन लभ्यः।'

(मुण्डकोपनिषद्)

आनन्दमय आत्मा की उपलब्धि श्रद्धा से हो सकती है; विकल्पात्मक बुद्धि से नहीं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे लोग

बुद्धि का उपयोग ही नहीं करते थे। व्यवहार में वे बुद्धि का भी उपयोग करते थे; हाँ, बुद्धिवाद को अविद्या मानते थे। श्रुतियों और निगमो का काल समाप्त होने पर ऋषियों के उत्तराधिकारियों ने आगमो की अवतारणा की। आगमो मे निगम के आनन्दवाद का विचार तथा क्रिया दोनो से अनुकरण हुआ। परम्पराप्राप्त सिद्धान्तो के आधार पर वेद-अविरुद्ध कुछ तर्कमूलक उद्भावनाये भी की गईं। आनन्द-प्राप्ति के लिए समरसता का सिद्धान्त साधन माना गया—

> जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
> मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मयो: ॥

अद्वैत की भूमिका पर भक्ति की मधुर कल्पना की गई। यह भक्ति, भेद-भाव, द्वैतभावना तथा जीवात्मा-परमात्मा की भिन्नता को नष्ट करनेवाली थी।

> समाधिवज्रेणाप्यन्यैरभेद्योभेदभूधर: ।
> परामृष्टश्च नष्टश्च त्वद्भक्तिबलशालिभि: ॥

अद्वैतवाद के इस नवीन विकास में प्रेमा-भक्ति की योजना तैत्तिरीयोपनिषद् के आधार पर हुई। आगे चलकर उसमे सौन्दर्य-भावना की भी प्रतिष्ठा हुई है।

> श्रुत्वापि शुद्ध चैतन्यमात्मा नयति सुन्दरम्।
>
> (अष्टावक्रगीता)

इन आगमानुयायियों ने पाशुपत योग की प्राचीन साधना-पद्धति के साथ-साथ आनन्द की योजना करने के लिए काम-उपासना-

प्रणाली भी दृष्टान्त रूप मे स्वीकृत की। उसके लिए श्रुतियों का आधार लिया।

'आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्द. स स्वराट् भवति'।

इन शैवागमो ने विश्व को आत्मा का अभिन्न अङ्ग मान लिया। संसार को मिथ्या मानकर असम्भव कल्पना के पीछे भटकने की यहाँ आवश्यकता नहीं थी। दुःखवाद से उत्पन्न संसार से विराग लेने की आवश्यकता नहीं समझी गई। इन साधको मे जगत् और आत्मा की व्यावहारिक अद्वयता से आनन्द की सहज भावना विकसित हुई। वे कहते है—

त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा।
चिदानन्दाकारं शिव युवति भावेन विभृपे॥
(सौन्दर्यलहरी ३५)

आगमानुयायी स्पन्दशास्त्र के अनुसार प्रत्येक भावना मे, प्रत्येक परिस्थिति मे आत्मानन्द प्रतिष्ठित है। उनकी अद्वैत-साधना के अनुसार सब विषयों में तथा इन्द्रियों के सभी अर्थों मे शिव है। कहीं भी अशिव नहीं। इसलिए इनके यहाँ 'मनो दुर्निग्रहम् चलम्' समझकर निराश होने की आवश्यकता नहीं। आगे चलकर पौराणिक युग में कृष्ण मे बुद्धिवाद और आनन्दवाद का समन्वय मिलता है। पौराणिक युग के पश्चात् शैवागमो का विश्वात्मवाद बौद्धो की महायान शाखा मे दिखलाई पड़ा; जब वे बौद्धमत की शून्यता से ऊबकर आनन्द की खोज मे लगे। किन्तु फिर भी उनके यहाँ आनन्दवाद अपने संकुचित रूप में ही रहा। इसके बाद अद्वैतमूलक आनन्दवाद की धारा सिद्धों के रहस्य-सम्प्रदाय मे

तुकनिगिरि और रसालगिरि आदि कवियों की लेखनी में बहती है। इन सिद्धों की छाया हिन्दी के निर्गुणवादी कवि कबीर आदि पर भी पड़ी, परन्तु उनके राम में विवेकवाद की ही प्रधानता रही। आनन्दवाद का क्रमिक इतिहास दिखाने का तात्पर्य यही है कि आनन्दवाद की धारा प्राचीन काल से ही कभी तीव्र कभी मन्द गति से बहती चली आ रही है। 'प्रसाद' जी का आनन्दवाद कोई नई या विदेशी वस्तु नहीं। बुद्धिवाद का यह विरोध अनातोले (फ्रांस) का नहीं है वरन् वैदिक काल से ही चला आ रहा है। हिन्दू संस्कृति मे श्रद्धातत्त्व सदा प्रधान तथा बुद्धितत्त्व सदा गौण रहा है। इसका समर्थन निगम, आगम, पुराण, गीता आदि सभी धार्मिक ग्रन्थ करते है। वस्तुत: आनन्दवाद की प्रेरणा 'प्रसाद' जी को *इन्द्र के आत्मवाद से मिली परन्तु इसका मुख्य आधार शैवागमो का प्रत्यभिज्ञा दर्शन है। 'कामायनी' मे श्रद्धा का भावात्मक स्वरूप, समरसता का सिद्धान्त, त्रिपुर (इच्छा, ज्ञान और क्रिया) का समावेश, श्रद्धा द्वारा तीनो का सम्मिलन आदि शैवागमो से लिया गया है। शृङ्खला मिलाने के लिए यत्र-तत्र उपनिषदों को भी आधार रूप में ग्रहण किया है। बौद्ध धर्म की आनन्दवादी महायान शाखा का भी प्रभाव कामायनी के दो-एक स्थलो पर दिखलाई पड़ता है। मूल स्रोतो या आधार की चर्चा का तात्पर्य यह नहीं कि वे गतानुगतिक थे; 'प्रस्थानभेदात् दर्शनभेद:' के अनुसार गन्तव्य या साध्य एक होते हुए भी प्रस्थान-भिन्नता से दर्शन मे नवीनता आ सकती है। प्रत्येक विचारक या विज्ञ का प्रस्थान अलग-अलग होता है। स्वतन्त्र बुद्धि रखनेवालों की ही दर्शन में गति हो सकती है 'मूढ़ः परप्रत्ययनेय-

---

* 'कोषोत्सव स्मारक संग्रह—'आर्यों का प्रथम सम्राट् इन्द्र'।

बुद्धिः' के लिए दार्शनिक क्षेत्र मे स्थान नहीं। प्राय: सभी दर्शनों का सत्य एक ही होता है। द्रष्टा की दृष्टि मे भेद होने के कारण दर्शनो में भेद हो जाता है। अस्तु इन दर्शनो पर विचार करते समय हमे यही देखना चाहिए कि गन्तव्य या साध्य स्थान पर पहुँचने के लिए कौन पथ सरल है, कौन वक्र। आरम्भ में ही यह बताया जा चुका है कि प्रसाद जी का पथ आनन्दवाद किस प्रकार अन्य मार्गों से सरल है।

अब 'कामायनी' के आनन्दवाद के स्वरूप पर विचार करना चाहिए तथा साथ ही उसकी नवीनता, मौलिकता एव विशेषता का उद्घाटन भी। प्रसादजी तैत्तिरीय उपनिषद् के 'अयमात्मा परानन्दः' के अनुसार आत्मा को आनन्द-स्वरूप मानते हैं। आनन्दमय जीवन कैसे हो; यही मनु तथा श्रद्धा के चरित्र-द्वारा बताया गया है। मनु आनन्द की खोज मे श्रद्धा से अलग होकर इधर-उधर भटकते हैं; बुद्धि (इड़ा) के मोह-पाश में पड़कर आनन्द-प्राप्ति की आशा करते है किन्तु परिणाम उल्टा होता है; आनन्द के स्थान पर सघर्ष, कलह तथा अशान्ति मिलती है। अन्ततोगत्वा बुद्धि को छोड़कर भागते हैं और जब तक श्रद्धा के पास नहीं आते तब तक उन्हे शान्ति या आनन्द नहीं मिलता। 'श्रद्धया सत्यमाप्नुते' के अनुसार मनु को श्रद्धा द्वारा ही आत्मा के सत्य स्वरूप आनन्द की प्राप्ति होती है। मुण्डक उपनिषद् के अनुसार भी आत्मानन्द की प्राप्ति का साधन श्रद्धा ही है। आत्मा श्रद्धावान् को ही सदा वरण करती है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्रसाद जी बुद्धि का विरोध कर रहे है। क्योंकि ज्ञान-प्राप्ति का भी साधन श्रद्धा ही है अत यदि श्रद्धा तत्त्व किसी के जीवन में आ गया तो बुद्धि या ज्ञान तत्त्व तज्जन्य होने के कारण स्वयं आ जायगा। 'स्वच्छन्दसार' के अनुसार भी श्रद्धा से ही सब विद्यायें

आती है। 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं' (गीता) के अनुसार भी श्रद्धावान् ज्ञान प्राप्त कर ही लेता है। मनोविज्ञान के अनुसार भी श्रद्धा में विवेक तत्त्व रहता ही है। अकेले रहने पर ज्ञान* बन्धन का कारण हो जाता है। बुद्धि स्वय आकर भेद नहीं डालती। जब मन स्वयं श्रद्धा रहित हो बुद्धि की ओर आकृष्ट होता है तब भेदत्व बढ़ता है। श्रद्धा के पास रहने पर मनु को बुद्धि का आकर्षण नहीं होता। मनु शरीर से श्रद्धा के पास रहते हुए भी जब तक उससे हृदय से दूर है तब तक उनके हृदय में भेद-बुद्धि रहती है। बुद्धि से क्षमता प्राप्त हो सकती है परन्तु उसका उपयोग तभी होगा जब श्रद्धा भाव से प्रेरणा मिलेगी। श्रद्धा के अभाव में बुद्धि की सारी क्षमता, सारे नियम, सम्पूर्ण व्यवस्था—सभी बेकार है। बुद्धि (इड़ा) नियम बनाती है, परन्तु मन श्रद्धा के अभाव में उसका पालन नहीं कर सकता। अगर बुद्धि (इड़ा) ही सब कुछ होती तो वह जो कुछ कहती वह मन मान लेता पर उसमें कुछ कमी है जिससे उसकी बातो को मन (मनु) नहीं मानता। जिस बात को कोई हृदय (श्रद्धा) से माने बैठा है उसे बुद्धि द्वारा सैकड़ो तर्क उपस्थित किये जाने पर भी वह उसे नहीं छोड़ सकता। ऐसा होते हुए भी जो बुद्धि से विशेष सुख की इच्छा करता है वह मनु के समान दुःख पाता है। सारांश यह कि आनन्द की प्राप्ति श्रद्धा-रहित बुद्धि द्वारा कभी नहीं हो सकती जैसा कि हम इस युग में देख रहे है। इस प्रकार प्रसाद जी के आनन्दवाद मे बुद्धिवाद का घोर विरोध है पर बुद्धि का नहीं, क्योकि आनन्द-प्राप्ति के मूल उपादान श्रद्धा में उतनी बुद्धि आ ही जाती है जिससे विशृङ्खलता न उत्पन्न हो।

---

* 'ज्ञानं' बन्धः—शिवसूत्रविमर्शिनी।

अब देखना यह चाहिए कि आनन्दवाद के मूल उपादान श्रद्धा का कैसा स्वरूप कामायनी मे रखा गया है। व्युत्पत्तितः श्रद्धा हृदय के सभी भावों की प्रतीक है। श्रत्+धा (हृत्+धा) जिसमें हृदय स्थापित किया जा सके। गीता तथा प्रबोधचन्द्रोदय नाटक मे श्रद्धा हृदय के सभी भावो के प्रतीक रूप मे मानी गई है। तभी तो वहाँ श्रद्धा की तीन कोटियाँ हैं—सात्त्विक, राजस तथा तामस। परन्तु प्रसाद जी ने कामायनी मे केवल श्रद्धा का सात्त्विक रूप रखा है। कामायनी की श्रद्धा हृदय के उदात्त भावो—दया, माया, ममता, त्याग-सेवा, सहानुभूति, विश्वास आदि—की प्रतीक है। यहाँ श्रद्धा आत्मोन्मुखी वृत्ति के रूप मे आती है। स्थान-स्थान पर कवि ने पात्रो द्वारा श्रद्धा को 'अमृत-धाम' 'कल्याणभूमि' 'ससृति' की व्यापक रहस्य, 'सर्वमगले' 'विश्वमित्र' आदि नामो से अभिहित किया है, जिससे अवगत होता है कि कवि ने मानव-जीवन मे श्रद्धा को सबसे ऊँचा स्थान दिया है। जब वह सृष्टि के मूल कारण काम की पुत्री है तो वह सृष्टि के विकास का उपादान क्यो न बने। श्रद्धा का यह सात्त्विक तथा विराट रूप कवि ने तन्त्रो के आधार पर निर्माण किया है, जहाँ वह जगत् की धात्री मानी गई है।

श्रद्धा हि जगताम् धात्री श्रद्धा हि सर्वस्य जीवन
× × × ×
तस्मात् श्रद्धाम् समाश्रित्य लोकः सर्व प्रवर्तितः।
'त्रिपुरारहस्य'
ज्ञानखण्ड छठाँ अध्याय

महाकाव्य का सम्पूर्ण भवन श्रद्धा के सात्विक स्वरूप पर खड़ा है। इसका विराट स्वरूप ताण्डव नृत्य के उत्पन्न करने मे तथा

स्मिति मात्र से त्रिपुरो के मिलाने मे दिखलाई पड़ता है। श्रद्धा द्वारा त्रिपुरो को मिलाने की प्रेरणा कवि को तन्त्रों से ही मिली।

त्रिपुरानन्तशक्त्यैक्यरूपिणी सर्वसाक्षिणी

अर्थात् सर्वसाक्षिणी श्रद्धा अपनी अनन्त शक्ति द्वारा त्रिपुरों को एकरूप करने में समर्थ है।

श्रद्धा के अभाव मे मानव या संसार की क्या दशा होती है इसका भी वहाँ विशद वर्णन है।

स भवेत सर्वतो हीनो यः श्रद्धारहितो नरः।
श्रद्धा वैधूर्ययोगेन विनश्येज्जगताम् स्थितिः॥

त्रिपुरारहस्य ज्ञानखण्ड ६

श्रद्धा के अभाव मे सारस्वत नगर की क्या दुर्दशा हुई वह महाकाव्य में प्रकट ही है। त्रिपुरारहस्य में श्रद्धा अमृतलोक तथा सुख देनेवाली मानी गई है।

तस्माच्छ्रद्धामृते लोकोऽवसीदेदश्वसन्।
तस्माच्छ्रद्धा दृढां प्राप्य सुखमात्यंतिके व्रज॥

प्रसाद जी ने भी श्रद्धा को अमृतधाम के रूप मे उपस्थित किया है।

श्रद्धा किस पर करनी चाहिए किस पर नहीं, इस बात का भी वहाँ उल्लेख है—

"तस्मात् सत्स्वेव कर्तव्या श्रद्धा नासत्सु कुत्रचित्"।

इस दृष्टि से प्रसाद जी ने कामायनी मे 'श्रद्धा' को ही श्रद्धेय बताया है। गीता ने भी 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः' के द्वारा श्रद्धा को पुरुषार्थ का मूल कारण माना है। जिसमे जितनी अधिक श्रद्धा की प्रचुरता होगी वह उतना ही अधिक पुरुषार्थी होगा, और जो जैसी श्रद्धा करेगा वह वैसा ही होगा।

प्रलय के उपरान्त निश्चेष्ट मनु श्रद्धा के ही संयोग से पुरुषार्थ में प्रवृत्त होते हैं।

यत् श्रद्धया करोति तत् वीर्यवत्तरं भवति ।

जो जितना ही अधिक श्रद्धामय होगा वह उतना ही अधिक वीर्यवान् होगा। चरित्र का मूलाधार भी श्रद्धा ही है क्योंकि चरित्र-निर्माण प्रेरणा से होता है और प्रेरक वस्तु श्रद्धा या हृदय ही है, बुद्धि नहीं। लाख नियम बनाने पर भी जब तक श्रद्धा नहीं होती तब तक उस नियम का पालन कोई नहीं कर सकता। श्रद्धा के स्वरूप की पूर्ण स्पष्टता के लिए श्रद्धा के आत्म-संगीत की संक्षिप्त व्याख्या यहाँ आवश्यक जान पड़ती है। श्रद्धा का भाव इतना प्रबल होता है कि अस्त्र-शस्त्र या शारीरिक शक्ति द्वारा कोई शरीर पर अधिकार कर ले किन्तु उस (श्रद्धा) पर अधिकार नहीं कर सकता। चेतना जब मूर्छित होने लगती है तो श्रद्धा उसे क्रोड़ मे लेकर सहलाती है। चेतना को कार्य मे व्यापृत करनेवाली भी श्रद्धा ही है। जब व्यथाओं का तिमिर छा जाता है, तब श्रद्धा उषा के समान प्रकाश करती है। भव-आतप की ज्वाला से झुलसते हुए लोगो के लिए श्रद्धा वसन्त की राका-रजनी के समान सुखद तथा शान्तिप्रद है। श्रद्धा के विषय में प्रसाद जी की भावना इनके अन्य ग्रन्थो में भी ऐसी ही है। स्कन्दगुप्त से एक उदाहरण लीजिए—

"घने प्रेम तरुतले

बैठ छाँह लो भव आतप से तापित और जले।

छाया है विश्वास की श्रद्धा सरिता कूल।"

विश्वास रूपी छाया प्रदान करनेवाले प्रेम तरु को अभिसिक्त करने के लिए श्रद्धा सरिता के समान है अर्थात् श्रद्धा ही से प्रेम और विश्वास दोनो उत्पन्न होते है। श्रद्धा के दर्शन से मनु को शिव

का ताण्डव नृत्य दिखाकर तथा त्रिपुरों को मिलाकर प्रसाद जी ने उसे परात्पर शक्ति के रूप में प्रकट किया है, जिसके बारे मे शैवागमों ने एक स्वर से कहा है, कि—

"शक्त्या विना परे शिवे नाम धाम न विद्यते।"

भक्त-शिरोमणि तुलसीदासजी भी अन्तस्थ ईश्वर का दर्शन श्रद्धा बिना असम्भव मानते हैं।

'भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ!
याभ्याम् बिना न पश्यन्ति स्वान्तस्थमीश्वरम्।

ईसाई मतवाले श्रद्धा के एकांशिक रूप 'विश्वास' पर ही धर्म को निर्भर मानते है अर्थात् श्रद्धा बिना धर्म तथा पारलौकिक उन्नति भी सम्भव नहीं। इन्हीं आधारो के बल पर प्रसाद जी श्रद्धा को लौकिक तथा अलौकिक दोनो आनन्दो की जननी मानते हैं।

कामायनी का आनन्दवाद आत्मवाद की भित्ति पर खड़ा है, जिसका इतिहास पहले दिखाया जा चुका है। अतएव यहाँ आत्मवाद के प्रधान सिद्धान्तों पर विचार करना चाहिए कि वे किस प्रकार आनन्दोत्पत्ति में सहायक है। आत्मवाद का प्रधान सिद्धान्त है 'सोऽहम्' मै वही हूँ। (प्रसाद जी "ईश्वर अंश जीव" वाला सिद्धान्त नहीं मानते। 'एको देव: सर्वभूतेषु गूढ:' के अनुसार वे अपने को सर्वत्र देखते हैं इस प्रकार आत्मवाद अभेद दृष्टि लाता है—

"अस्मद्रूप समाविष्ट: स्वात्मनात्मनिवारणे।
शिव: करोतु निजया नम: शक्त्या ततात्मने।"

(शिवदृष्टि)

यहाँ उपास्य और उपासक मे भेद नहीं। उपासक (जीव) बाह्य संसार के प्रभाव मे आकर अपने वास्तविक रूप को भूल जाता है। अपनी संवेदनात्मक अनुभूति के द्वारा उस शिव तत्त्व (आनन्द तत्त्व) का प्रत्यभिज्ञान करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। व्यक्ति की आत्मा मे माहेश्वरी शक्ति है, किन्तु वह उपाधि-युक्त होने के कारण सकुचित या सुप्त हो जाती है। जब वह अपनी चेतना के विस्फार द्वारा विश्वात्मा के सभी गुणो—'मै संसार का हूँ, ससार मेरा है, मेरा यथार्थ रूप सच्चिदानन्द है, लोक-मङ्गल ही मेरा धर्म है, आदि का अनुभव अपने मे करने लगता है तब उसमें माहेश्वरी शक्ति जगती है और वह सोऽहं के पद को प्राप्त हो जाता है, पूर्ण आनन्द मय हो जाता है तथा कामनारहित हो जाता है। प्रसाद जी (शिवतत्त्व) के अतिरिक्त (प्रकृति तत्त्व) शक्ति तत्त्व को मानते है किन्तु यह शक्ति तत्त्व अव्यक्त शिवतत्त्व से पृथक नहीं वरन उसका व्यक्त स्वरूप है। शिव रूप का स्फुरण (प्रकृति) द्वारा सृष्टि के रूप मे होता है परम शिव की दोनो अवस्थाएँ स्पन्दशास्त्रो मे लयावस्था तथा भोगावस्था के नाम से अभिहित है। (जिस समय परम शिव अपने सम्पूर्ण व्यापारो को समाप्त कर निज स्वरूप-में अवस्थान करता है उसे लयावस्था कहते है,) और (जिस समय वह सृष्टि रूप में अपनी शक्ति का उन्मेष करता है उसे भोगावस्था कहते है।) ये दोनो अवस्थाएँ प्रलय तथा सृष्टि रूप मे कामायनी में दिखाई गई है। यह परम शिव या परम तत्त्व, शिव और शक्ति का सामरस्य है। इस परम शिव के दो* भाव है विश्वात्मक तथा विश्वोत्तीर्ण। विश्वात्मक रूप से परम शिव प्रत्येक वस्तु मे व्याप्त है—

* श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण-विश्वात्मक परमानन्दमय प्रकाशैकघनस्य अखिलभेदेनैव स्फुरति। —प्रत्यभिज्ञा हृदय सूत्र ३

"सबमें घुलमिल कर रसमय
रहता वह भाव परम है।"
दर्शन सर्ग २९६

विश्वोत्तीर्ण रूप में विश्व के सभी पदार्थों को अतिक्रमण करता है। परम शिव का विश्वोत्तीर्ण रूप ताण्डव नृत्य के समय दिखाया गया है। परम शिव इस जगत् का उन्मीलन स्वयं अपनी इच्छा से करता* है। न उसे किसी उपादान की आवश्यकता है न किसी आधार की। जगत् पहले भी विद्यमान था। केवल उसका प्रकटीकरण सृष्टिकाल मे शिव-शक्ति से सम्पन्न होता है। सिसृक्षा होते ही परम शिव के दो रूप हो जाते हैं। शिव रूप तथा शक्ति रूप। शिव प्रकाश रूप है और शक्ति विमर्श-रूपिणी। अहमंश शिव है इदमंश शक्ति। बिना शक्ति के शिव के प्रकाश रूप का ज्ञान नहीं हो सकता। शिव के बिना शक्ति का कोई अस्तित्व ही नहीं क्योकि शिव ही बहिर्मुख होने पर शक्ति है और शक्ति ही अन्तर्मुख होने पर शिव। एक की सत्ता दूसरे पर अवलम्बित है।

'न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिवः।
नानयोरन्तरं किञ्चित् चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥

शिव तत्त्व मे शक्ति भाव गौण और शिव भाव प्रधान रहता है उसी प्रकार शक्तितत्त्व मे शिव भाव गौण तथा शक्ति भाव प्रधान रहता है। तत्त्वातीत दशा में न शिव की प्रधानता है न शक्ति की प्रत्युत दोनों की साम्यावस्था है। यही शिवशक्ति का सामरस्य

---

* स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।
प्रत्यभिज्ञा हृदय सूत्र २

है। इस सामरस्य को शैव लोग परम शिव तथा शाक्ति लोग पराशक्ति मानते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि कामायनी मे श्रद्धा पराशक्ति के अवतार रूप मे दिखाई गई है। इससे यह प्रतीत होता है कि प्रसाद जी शक्ति-अद्वैतवाद के सन्देशवाहक हैं और इसी कारण वे 'इदम्' को 'अहम्' मे पर्यवसित करने का समर्थन नहीं करते प्रत्युत 'अहम्' का 'इदम् मे लीन करने की साधना स्वीकार करते है।

प्रसाद जी शांकर मत के समान जगत् को मिथ्या या सांख्य और बौद्धो की तरह दुःखमय नहीं मानत। उसे आनन्दमूर्ति शिव का विग्रह मानकर सत्य तथा आनन्दमय मानते हैं। शांकर मत आत्मवाद की दु.ख-मिश्रित धारा है, परन्तु प्रसाद का आत्मवाद आनन्द की धारा से परिप्लावित है। शांकर अद्वैत में ज्ञान की प्रधानता है। प्रसाद के अद्वैत मे श्रद्धा की। प्रसाद के अद्वैत का अर्थ है दो का नित्य सामरस्य (ब्रह्म और जगत की समरसता) परन्तु शांकर अद्वैत दो मे से एक ही सत्ता मानकर (ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या) चलता है। कामायनी में अद्वैत का सिद्धान्त 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' वाले सिद्धान्त के अनुसार जगत को सत्य मानकर ब्रह्म और जगत में सामरस्य लाता है। इसमे जगत आत्मशक्ति के क्रीड़ागार रूप में देखा गया है। पुरुष से प्रकृति कि वा प्रकृति से पुरुष एकान्तत. पृथक नहीं, क्योकि शक्ति रूप किरण राशि शिव रूप सूर्य का स्फुरण मात्र है। अत· सृष्टि पदार्थ का वहिः अन्तः-स्थिति-प्रकाश है। शक्ति ही अन्तर्मुख होने पर शिव है और शिव वहिरूप होने पर शक्ति है। तब भला शक्ति रूप सृष्टि को मिथ्या कैसे माना जाय। शांकर मत में माया आवरण बनकर आती है परन्तु प्रसाद जी उसे माहेश्वर की कर्तृत्व शक्ति मानते है जिसके द्वारा

पुरुष व्यक्त होता है। जिस प्रकार नाटक में हरिश्चन्द्र का अभिनय करनेवाला पात्र हरिश्चन्द्र को व्यक्त करता है तद्वत् पुरुष माया को अपने आगे रखकर अपने रूप को व्यक्त करता है। ब्रह्म स्वयं अपनी शक्ति माया के द्वारा अपने को इस प्रकार ढक लेता है, जिस प्रकार सूर्य से उत्पन्न हुआ मेघ सूर्य को। जैसे मेघ सूर्य की शक्ति का द्योतक है तद्वत् शिव से आविर्भूत माया-मेघ भी शिव स्वरूप का द्योतक है। इसी के आश्रय से आत्मा प्रकाश पाता है इसलिए सत्य-शक्ति से उत्पन्न होने के कारण माया भी सत्य है। इसी कारण प्रसादजी निवृत्तिवादियों के समान माया अथवा तत्प्रसूत जगत् को त्यागने का आदेश नहीं देते प्रत्युत उसके संग्रह में ही जीवन की सार्थकता मानते है। नियति तत्व तथा सामरस्य सिद्धान्त के समान ही मायातत्व* भी प्रसाद ने तन्त्रो से ही ग्रहण किया है। तंत्रो मे माया वस्तु रूपा हैं। मा का अर्थ है प्रलय मे जगत् का अधिष्ठानया का अर्थ है सृष्टि मे व्यक्त होनेवाला पदार्थ।

प्रसादजी की ईश्वर-विषयक भावना अद्वैतवादियों या दुःख-वादी दार्शनिको से अत्यन्त व्यापक है। बाहर भीतर दुःख, सुख, मंगल-अमंगल किम्बहुना विषयों तक में भी वे ईश्वर की कल्पना मानते है।

> विषयेषु च सर्वेषु इन्द्रियार्थेषु च स्थितम्।
> यत्र यत्र निरूप्येत नाशिवं विद्यते क्वचित्॥

---

* माया च वस्तुरूपा मूलं विश्वस्य नित्या सा

तत्त्वप्रकाशिका कारिका ६

कहना नहीं होगा कि प्रसादजी की दार्शनिक दृष्टि यहाँ पर इतनी ऊँची है, कि वह जन साधारण के लिए प्रयोगार्ह नहीं। वे यहाँ वाममार्गियो से मिलते जुलते हैं। पर वे वाम मार्ग के नहीं प्रत्युत दक्षिण मार्ग के अनुयायी थे जिसमे शिव की अखण्ड और सर्वव्याप्त सत्ता के रूप में संसार का ग्रहण होता है।

प्रसाद के दार्शनिक विचारों मे नियति का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। नियति पर पर्याप्त प्रकाश प्रसाद जी ने अपने नाटक 'जनमेजय का 'नाग-यज्ञ' मे डाला है—"कर्मफल तो स्वयं समीप आते हैं पहले से ही उनसे भागकर कोई वच नहीं सकता"× × अतः पुनर्जन्म के कर्म जीवन की दिशा को निश्चित कर देते है इसी लिए उसे प्रसाद जी ने नियति का दास कहा है। "मनुष्य प्रकृति का अनुचर तथा नियति का दास है।" नियतिवादी होने का तात्पर्य कर्म का त्याग नही प्रत्युत ग्रहण है। प्रसाद जी नियति को पूर्वजन्म के कर्मों का फल अर्थात् प्रारब्ध मानते है। कर्मफल के नियत होने से ही मनुष्य नियति का दास है। नियति पर विश्वास रखने से जीवन मे अहङ्कार का प्रवेश नहीं हो सकता। नियति तत्त्व भी प्रसादजी ने तन्त्रों से ही लिया है। वहाँ नियति का अर्थ है "नियमन हेतु" अर्थात् जीव की स्वातन्त्र्य-शक्ति को तिरस्कृत कर उसे एक निश्चित नियम-पथ पर चलानेवाला तत्त्व नियति तत्त्व कहलाता है जिसके कारण वह निश्चित कार्यों के करने मे प्रवृत्त होता है। शैवागमो में नियति का नाम कचुकों के अन्तर्गत लिया गया है। वहाँ नियति माया की संतति कही गई है और माया शिव की कर्तृत्व शक्ति। अतः परम्परया नियति की उत्पत्ति शिव से ही है। वह कर्मफल देनेवाली शिव-शक्ति है। नियतिवाद जीवन का असंतोष घटाता है, क्योंकि पहले से ही जो वात निश्चित है, वह होकर ही रहेगी

तो फिर असंतोष और आकुलता की क्या आवश्यकता? असंभावित कार्य फल होने पर भी मनुष्य असन्तुष्ट नहीं होता। वह यह नहीं सोचता कि यदि ऐसा किया होता तो ऐसा होता; क्योंकि वह जानता है कि जो पहले से निश्चित था वही हुआ। इस प्रकार से नियतिवादी न तो सफलता पर अभिमान करता है और न असफलता पर दुःख। वह नियति को कर्मफलदायक समझकर सदा आनन्दित रहता है।

अब 'कामायनी' की समरसता का सिद्धान्त लीजिए। दो विपक्षी या विरोधी वस्तुओ के द्वन्द्व का अभाव ही समरसता है जिससे दोनों वस्तुएँ समरस या समभाव जान पड़ती है। इन मे एकरसता आ जाती है। द्वन्द्व के अभाव से उनमें समन्वय स्थापित हो जाता है। गीता में इसी को समत्व भावना कहते है; जहाँ विरोधी वृत्तियो का समीकरण होता है। योगियो के यहाँ इसे निर्विशेष स्थिति कहते है, जिसमें जीव और ब्रह्म मे एकरसता आ जाती है। शैवागमो मे इसी को चिदानन्द प्राप्ति कहते हैं जहाँ शिव और शक्ति का सामरस्य होता है। अन्य दर्शनों ने इसी स्थिति को सर्व-भाव या परम भाव के नाम से अभिहित किया है। कहना नहीं होगा कि प्रसादजी को समरसता की प्रेरणा शैवागमो से ही मिली परन्तु वह आध्यात्मिक सिद्धान्त यहाँ व्यावहारिक रूप में गृहीत हुआ है। हमारे जीवन में दुःख, दैन्य संघर्ष, विषमता, क्षुब्धता तथा अशान्ति क्यो है? समरसता न होने के कारण। सामरस्य के अभाव मे हम दु.ख-सुख से अभिभूत हो आत्मा के आनन्द स्वरूप को भूल जाते है। सुख, दुःख वस्तुतः मन का धर्म है। मन के सुख दुखात्मक द्वन्द्व की छाया जब आत्मा पर पड़ती है तब वह मलिन होकर निरानन्द हो जाता है। हम भ्रम से स्थूल का आरोप

आत्मा पर करके उसके वास्तविक स्वरूप आनन्द को भूल जाते है। सुख हमारे जीवन का चरन लक्ष्य या चरम पुरुषार्थ नहीं ; प्रत्युत इसके परे रहनेवाला, आनन्द है। सुख स्थूल शरीर का धर्म है इसलिए वह हमारा साध्य नहीं, हमारा साध्य आनन्द होना चाहिए, क्योंकि इसकी प्राप्ति करना आत्मा का वास्तविक स्वरूप जानना है। अस्तु आनन्द प्राप्ति के लिए मानसिक क्रियाओ मे सामरस्य स्थापित करना चाहिए। सामरस्य स्थापित हो कैसे ? जब द्वन्द मिट जाय। द्वन्द्व मिटे कैसे ? जब हमारे अन्दर अभेद-दृष्टि उत्पन्न हो जाय ; जब हम प्रत्येक स्थिति में आनन्दमय शिव का दर्शन करने लगे, हमारी अन्तर्मुखी तथा वहिर्मुखी वृत्तियो मे समन्वय स्थापित हो जाय, प्रत्येक वस्तु अपने उपयुक्त स्थान पर रहने लगे, प्रत्येक वस्तु से अतिवाद की मात्रा दूर हो जाय तथा प्रत्येक व्यक्ति तथा समाज के उद्देश्य एक दूसरे के पूरक हो जायँ।

कामायनी मे समरसता के तीन रूप मिलते हैं। व्यक्ति की समरसता, समाज की समरसता, प्रकृति तथा पुरुष की समरसता। व्यक्ति की समरसता, श्रद्धा के जीवन द्वारा व्यक्त हुई है। समाज की समरसता के अभाव मे सारस्वत प्रदेश मे विप्लव तथा संघर्ष उत्पन्न होता है। प्रकृति तथा पुरुष की समरसता 'आनन्द' सर्ग मे दिखाई गई है। प्रसाद जी ने रहस्य नामक सर्ग मे कर्म, ज्ञान तथा इच्छा की समरसता द्वारा जीवन को आनन्दमय बनाने का मूल मन्त्र बतलाया है। जीवन के दुःख मय होने का प्रधान कारण इन तीनो मे समरसता का अभाव होना है। इनका परस्पर न मिलना ही जीवन की विडम्बना है। ज्ञान अलग पड़ा है, कर्म अलग, तव इच्छा पूर्ण कैसे हो; क्योंकि इच्छा, ज्ञान बिना अन्धी है, कर्म बिना लँगड़ी; तब भला वह अपने लक्ष्य

को कैसे प्राप्त कर सकती है; और जब तक वह इन तीनो की समरसता को प्राप्त नहीं करेगी तब तक जीवन आनन्दमय नहीं हो सकता। कर्म तथा ज्ञान में समरसता आने से ही मानव की इच्छाएँ पूर्ण होती हैं और तभी वह पूर्ण मानवता को प्राप्त होता है। (प्रसाद जी ने श्रद्धा द्वारा कर्म इच्छा तथा ज्ञान का समन्वय कराया है।) गीता में भी समत्व की बहुत प्रशंसा की गई है। गीता की समत्व भावना में विरोधी वृत्तियों का समीकरण (सामरस्य) विवेक द्वारा हुआ है; परन्तु प्रसाद जी की समरसता विवेकवादी या बुद्धिवादी नहीं है। गीता का समत्व निवृत्ति पर निर्भर है। प्रसाद का सामरस्य श्रद्धा पर। कामायनी के मूल में आनन्द की साधना का प्रधान तत्त्व श्रद्धा है और सामरस्य उसका साधन है। यदि सामरस्य प्रयत्न है तो 'आनन्द साध्य। सामरस्य की साधना से आनन्द की सिद्धि होती है। प्रसाद जी की दृष्टि में आनन्द एक ऐसी वस्तु है जिसकी प्राप्ति के पश्चात् मनुष्य कामना रहित हो जाता है। उसमें अन्य किसी वस्तु की इच्छा नहीं रहती। (प्रसाद जी के लिए आनन्द-प्राप्ति की अवस्था प्रपञ्चातीत या विषयातीत अवस्था है। उनके लिए आनन्द ही योग है, आनन्द ही मोक्ष तथा आनन्द ही ब्रह्म है। वे विवेकवादी नहीं श्रद्धावादी हैं। उनके दर्शन में आध्यात्मिकता ही नहीं व्यावहारिकता भी है। दर्शन में तर्क की प्रधानता रहती है, वह ईश्वर का अस्तित्व या अनस्तित्व तर्क की द्वारा सिद्ध करता है, कवि अनुभूति द्वारा उसका प्रत्यभिज्ञान करता है। अतएव कवि दर्शन की बातो को मानस भूमि पर लाकर प्रेय बना देता है। प्रसाद जी ने दर्शन को अनुभूति की कसौटी पर परख-कर कविता से आबद्ध कर श्रेय को प्रेय बना दिया है। साहित्य तथा दर्शन का सुन्दर सामञ्जस्य करने का श्रेय संस्कृत मे जिस प्रकार

अभिनवगुप्ताचार्य को है तद्वत् हिन्दी में प्रसादजी को। कामायनी में जहाँ कहीं दार्शनिक विवेचन है वहाँ मानव-जीवन तथा इतिहास की पीठिका वर्तमान है, जिससे उसका दर्शन बहुत ही व्यावहारिक तथा मनोवैज्ञानिक हुआ है। सचमुच प्रसादजी ने दर्शन से जीवन को देखा है और जीवन से दर्शन को। इसी लिए वे कामायनी की दार्शनिक पीठिका पर मानव जीवन का आनन्द पूर्ण भवन निर्माण करने में सफल हुए हैं।

युग की अभिव्यक्ति

साहित्य की शुद्ध तथा सात्त्विक भूमि में उसके अन्य तत्त्वों की अपेक्षा युग की प्रतिध्वनि अधिक स्पष्ट सुनाई पड़ती है। कवि चाहे अतीत में विचरण करे, चाहे भविष्य में, वह अपनी प्रकृत अवस्था में मूल प्रेरणा उस युग के समाज से ही पाता है जिसमें वह अपना जीवन-यापन करता है। प्रकृत कवि जीवन को समझने के लिए अतीत की ओर तथा उसे सफल बनाने के लिए भविष्य की ओर देखता है किन्तु उसका साध्य सदा वर्तमान ही रहता है। प्रस्तुत वर्तमान से असन्तुष्ट रहनेवाला कवि उस युग के समाज से अपने को कितना ही तटस्थ क्यो न रखे पर उसके कानों में समाज की पुकार न सुनते हुए भी पड़ेगी ही। जब कभी वह समाज के धरातल पर कदम रखेगा तब उसे युग के प्रस्तुत दृश्यों से प्रभावित होना ही पड़ेगा। यदि उसने हृदय खो नहीं दिया है; यदि वह अपने को घर के किसी कोने मे सदा बन्द नहीं रखता तो उसे युग जीवन की समस्याओं से कभी न कभी ज्ञात या अज्ञात रूपेण प्रभाव ग्रहण करना ही पड़ेगा तथा युग की प्रवृत्तियों का खण्डनात्मक या मण्डनात्मक रूप धारण करना ही पड़ेगा। तात्पर्य यह कि किसी भी कवि का व्यक्तित्व चाहे वह युग का खण्डन करनेवाला हो चाहे मण्डन; उस युग के समाज-द्वारा ही निर्मित होता है। संस्कृत साहित्य के वाल्मीकि तथा कालिदास, हिन्दी के तुलसी, कबीर, भूषण एवं प्रेमचन्द, तथा अँगरेज़ी के शेक्सपियर, शेली, ब्राउनिङ्ग आदि महाकवि अपने-अपने युग की देन हैं। इन कवियो के निर्माण के लिए इनका युग सबसे अधिक उत्तरदायी है। जब हम कवि का

निर्माण कहते है तब उसका अर्थ है उसकी कृतियों का निर्माण—क्योकि समीक्षक के सामने कवि अपनी कृतियो द्वारा ही आता है। प्रस्तुत विषय के अनुसार हमे केवल प्रसाद जी की कृति कामायनी पर ही विचार करना है कि इसके निर्माण मे वर्तमान युग कहाँ तक उत्तरदायी है। (यदि साम्प्रत युग ने श्रद्धा के अभाव तथा बुद्धिवाद के अतिवाद स्वरूप संसार में संहार, हिंसा, प्रलय, अशान्ति, उद्वेग आदि से मानव मे हाहाकार न मचाया होता तो श्रद्धा का महत्व तथा प्राधान्य प्रतिपादित करनेवाली तथा बुद्धिवाद का विरोध करनेवाली कामायनी की रचना न हुई होती) बुद्धि से आविष्कृत यंत्रो तथा मशीनो द्वारा भौतिक दृष्टि से मानव एक दूसरे के निकटतम होने पर भी हृदय से इतना दूर पड़ रहा है मानो मानव का मानव से कोई सम्बन्ध ही नही। वैज्ञानिक यंत्रो से समय तथा प्रयत्न एवं शक्ति की बचत होने पर भी मनुष्य इतना स्वार्थी तथा व्यावसायिक हो गया है कि उसके पास दूसरे का दुःख सुनने या देखने के लिए हृदय ही नहीं है। वह भौतिक दृष्टि से अधिक से अधिक शक्तिमान होने पर भी हृदय, श्रद्धा या अध्यात्म के अभाव मे अपने परम साध्य वस्तु (आनन्द) से प्रवञ्चित हो रहा है। (यदि युग की इस प्रवञ्चना से कवि की आत्मा तड़पी न होती तो आनन्दवाद की प्रतिष्ठा करनेवाली कामायनी की सृष्टि न हुई होती।) धोखे की टट्टी, आडम्बर के जाल से भरी अर्थ-प्रेम तथा भौतिक बल की शिक्षा देनेवाली, मानवता को विकृत करनेवाली पश्चिमी या बुद्धिवादी सभ्यता की व्याधि से विश्व को विकल होते इस युग मे प्रसादजी ने न देखा होता तो उस व्याधि से मानवता को बचाने के लिए उनकी कल्पना कामायनी सदृश महाकाव्य की रचना मे प्रयत्नशील न हुई होती। यदि इस युग ने अव्यावहारिक ह्रासोन्मुखी रूढ़ि मे

जकड़ी हिन्दू जाति की दुर्दशा कवि को न दिखाई होती तो वह भारतीय संस्कृति की व्यावहारिक, वैज्ञानिक तथा विकासोन्मुखी व्याख्या करनेवाली कामायनी जैसे ग्रन्थ की रचना में समर्थ न हुआ होता। कुटुम्ब की स्रष्टा, समाज की विधातृ, सेवा, त्याग सौन्दर्य एवं शक्ति की प्रतीक नारी का अधिकार-शून्य, आलोकहीन तथा नारीत्व रहित रूप साम्प्रत समाज ने न दिखाया होता तो नारीत्व की मूर्ति श्रद्धा जैसी नारी का चित्रण करनेवाली कामायनी का दर्शन न हुआ होता। शासित की रक्षा एवं पालन का ध्यान छोड़कर अपनी स्थिति, अपनी सत्ता, अपने विलास तथा अपने सम्मान की रक्षा मे प्रयत्नशील निरंकुश शासकों से पीड़ित प्रजा का हाहाकार यदि इस युग ने कवि को न सुनाया होता तो निरकुश शासक मनु के विरुद्ध प्रजा की क्रान्ति तथा विप्लव का चित्रण करनेवाली कामायनी का रूप कुछ दूसरा ही होता। सामाजिक जीवन से व्यक्तिगत 'जीवन को अलग करनेवालो की दुर्दशा वर्तमान समाज मे यदि कवि न देखी होती तो वह व्यक्ति तथा समाज में समन्वय स्थापित करनेवाली कामायनी का आकार कुछ दूसरा ही रखता। तात्पर्य यह कि यदि इस युग के अतिरिक्त किसी दूसरे युग में कामायनी की रचना हुई होती तो इसका काव्यात्मक रूप, इसका दर्शन, इसकी ऐतिहासिक व्याख्या इसका समाज तत्त्व एव इसकी सांस्कृतिक चेतना कुछ दूसरे ही प्रकार की होती। कदाचित् नाम भी कुछ दूसरा ही होता। 'कामायनी युग की देन है' कहने का अर्थ यह नहीं कि इसमे युग की सभी प्रवृत्तियो का उल्लेख है। युग की सभी प्रवृत्तियो का चित्रण किसी भी काव्य मे सम्भव नहीं और न यह आवश्यक ही है। काव्य की प्रकृति एवं कवि की प्रवृत्ति के अनुसार युग का न्यूनाधिक चित्रण किसी काव्य में होता है। वर्तमान युग तथा समाज

से कथानक एव पात्र चुननेवाले कवि को युगाभिव्यक्ति का अवसर बहुत अधिक रहता है। अत· उसके काव्य में युग का चित्रण प्रत्यक्ष रूप मे अधिकाधिक हो सकता है। अतीत वृत्तो तथा पात्रो को लेकर चलनेवाले कवियो को वर्तमान चित्रण का अवसर बहुत कम मिलता है। युग चित्रण-सम्बन्धी उनकी स्वतन्त्रता बहुत सीमित होती है। किन्तु ऐसे कवियो की प्रवृत्ति यदि वर्तमान से प्रेम तथा सहानुभूति करनेवाली होती है; यदि वे युग की विषमताओ तथा समस्याओ से प्रभावित रहते है तथा यदि वे वर्तमान को सफल देखना चाहते है तो स्वतन्त्रता सीमित होन पर भी वे यथास्थान युग की प्रमुख समस्याओ पर प्रकाश परोक्ष रूप से डाले बिना नही रह सकते। हॉ उन्हे संयम से काम लेना पड़ता है जिससे वर्तमान का चित्रण इतना उभरा हुआ तथा अतिरञ्जित न होने पाए जो अतीत को दबा बैठे अन्यथा काव्य मे काल-दोष आ जायगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि अतीत वृत्त को लेकर अवसर कम रहने पर भी, प्रसाद जी ने वर्तमान से प्रभावित होने के कारण ही युग की समस्याओ पर परोक्ष रूप से पर्याप्त प्रकाश डाला है पर इतने सयम से कि काव्य में काल-दोष कहीं भी नही आने पाया।

युग की अभिव्यक्ति का ढङ्ग ही नहीं वरन् उसका स्वरूप भी काव्य की प्रकृति तथा आकार-प्रकार के अनुसार बदलता रहता है जैसे:* उपन्यास मे युग की सामाजिक गति-विधि का बाह्य चित्रण प्रत्यक्ष ढङ्ग से अधिकाधिक रहता है किन्तु महाकाव्य† मे युग के

The Vivid and realistic Portrayal of the age is most direct and full in novel
Epic poetry is likely to reflect the spirit of the age indirectly through formes of life that are not Cantemporary yet none the less may the temper of the age appear

From —Literáry Interpretation of life

अन्तर्पक्ष पर कवि की दृष्टि अधिक रहती है। और वह भी वृत्त ऐतिहासिक होने पर परोक्ष रूप से ही। इसी लिए प्रसादजी ने सारस्वत प्रदेश में प्रजा के विप्लव का बाह्य-वर्णन बहुत ही सक्षेप से किया है।

महाकाव्यो मे युग की अभिव्यक्ति का परोक्ष या प्रच्छन्न रूप प्राय: चार प्रकार का दिखलाई पड़ता है।

१—पात्रो या कवि की उक्ति के रूप मे।

२—तद्वत् (युगवत्) दृश्यो तथा परिस्थितियो की योजना-द्वारा।

३—पात्रो के कार्यों के सङ्केत से।

४—घटनाओ की व्यञ्जना-द्वारा।

पात्रों की उक्तियाँ कामायनी मे स्थाम-स्थान पर युग की समस्याओं की ओर सङ्केत कर रही है—जैसे काम की नीचे की उक्ति देखिए :—

"यह अभिनव मानव प्रजा सृष्टि।
द्वयता मे लगी निरन्तर ही वर्णों की करती रहे वृष्टि।
अनजान समस्यायें गढ़ती रचती हो अपनी ही विनष्टि॥
कोलाहल कलह अनन्त चले, एकता नष्ट हो, बढ़े भेद।
अभिलषित वस्तु तो दूर रहे, हाँ मिले अनिच्छित दुखद खेद॥

× × ×

पहचान सकेंगे नहीं परस्पर चले विश्व गिरता पड़ता।
तब कुछ भी हो यदि पास भरा पर दूर रहेगी सदा तुष्टि॥
दुख देगी यह संकुचित दृष्टि।"

काम की इस आकाशवाणी की योजना कवि ने यहाँ पर भारत की वर्ण तथा जाति समस्या की ओर दृष्टिपात करने के लिए

ही की है। प्रसाद जी का कहना है कि प्राचीन काल में सामाजिक सङ्गठन एवं व्यक्ति तथा समाज मे सन्तुलन स्थापित करने के लिए तथा शोपण रोकने के लिए चारो वर्णों की रचना गुण-श्रम के अनुसार हुई थी किन्तु अब गुण-श्रम का आधार लोप हो गया। परम्परागत आभिजात्य की मान्यता समाज मे स्थापित हो गई। परिणाम यह हुआ कि समाज सङ्गठन के स्थान पर समाज का विघटन होने लगा। (एकता के स्थान पर वर्णों मे ऊँच-नीच का भाव आने पर द्वयता स्थापित हो गई। कालान्तर में चार ही नहीं प्रत्युत अनेक वर्णों, जातियो तथा उपजातियो की रचना समाज में हुई। वर्णभेद के साथ समाज मे ऊँच-नीच, छूत-अछूत, खान-पान, अधिकार, कर्तव्य, समानता-असमानता, जाति पक्षपात, विजाति-द्रोह आदि अनेक समस्याये अनजान रूप मे आकर हिन्दू जाति का नाश करने लगीं। जाति-जाति के भीतर छूत, फूट कलह, द्रोह, आदि फैलकर शक्ति नष्ट करने लगे। जिस अभिलषित वस्तु (समाज की अधिकाधिक सेवा, त्याग, शोपण—अवरोध, समाज सङ्गठन आदि) के लिए वर्णविभाग हुआ था वह लुप्त हो गई। अनिच्छित दुख (ऊँच-नीच भाव, छूत-अछूत विचार, फूट कलह, द्रोह आदि) का आगमन हो गया।

हम एक पिता मनु की सन्तान होकर एक दूसरे को पहचानते नहीं। मृत ढाँचे को हम लोग कुत्ते की तरह चाट रहे है। थोथी धार्मिकता तथा मिथ्या आभिजात्य की आड़ मे हम प्रकृत मानवता से वंचित हो रहे है। पारस्परिक फूट तथा द्रोह के कारण हमारी शक्ति तथा वल का प्रयोग लक्ष्य-प्राप्ति में नहीं किन्तु अपने भाई के प्रतिशोध तथा प्रतिहिंसा मे हो रहा है। ऐसी स्थिति

मे हमारे पास सर्वस्व क्यों न हो हम लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकते। लक्ष्य प्राप्त करना तो दूर रहा ऐसी सकुचित दृष्टि से हम अपने लक्ष्य को देख भी नहीं सकते। जब तक हम ठोस सत्य को ठुकराते रहेंगे तब तक हमे निश्चय दुःख होगा ही। प्रसाद जी "चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं" के अनुयायी नहीं। वे वर्ण की रचना सामाजिक आवश्यकतानुसार समाजकृत मानते हैं; ईश्वरकृत नहीं, इसे उन्होने कंकाल मे एक स्थान पर स्पष्ट कर दिया है "हिन्दू-मुसलिम ईसाई तो तुझे समाज ने बनाया है। मूलतः तू मानव है। किन्तु सच पूछ तो तेरी नस्ल का ठिकाना नहीं है। धार्मिकता और खान्दानीपन की आड़ में तू प्रतिदिन पतित हो रहा है। जिसका परिणाम है कि तू अपनी प्रकृत मानवता से वंचित होकर वासनाओं का गुलाम बन गया है" प्रसाद की उपर्युक्त उक्ति तथा तत्सम्बन्धी विवेचना का तात्पर्य यह है कि आज कल की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा शैक्षणिक स्थिति वर्ण योजना को सँभालने में असमर्थ है। अस्तु साम्प्रत युग मे प्रचलित अव्यावहारिक, निर्बल तथा ह्रासोन्मुखी वर्ण-रूढ़ि के कठघरे से समाज को निकालना होगा। इससे पता चलता है कि प्रसाद जी बँधी परिपाटी पर नहीं चलते। वे अतीत के सांस्कृतिक नियमो का रूढ़िगत अर्थ नहीं लेते। उनकी वैज्ञानिक व्याख्या करते है। समय की बदली हुई प्रवृत्तियाँ तथा नैतिक आदर्शों के अनुसार उनमे परिवर्तन आवश्यक समझते है।

"पुरातनता का यह निर्मोक
सहन करती न प्रकृति पल एक।
नित्य नूतनता का आनंद
किए है परिवर्तन में टेक।"

जिस प्रकार सॉप नहीं बदलता किन्तु उसली केंचुली समय के अनुसार बदलती रहती है तद्वत् संक्रान्ति-काल मे संस्कृति की ऊपरी त्वचा बदलती है। सर्प निर्मोक क्यो बदलता है? क्योंकि उसको त्यागे बिना वह एक कदम भी आगे नहीं चल सकता किम्बहुना वह जीवित नहीं रह सकता। उसी प्रकार वे सामाजिक विचार, वे प्रथाएँ तथा वे रीति-रिवाज एव मान्यताएँ जिनका समय बीत चुका है; जो समाज की प्रगति में बाधा डालती है; उन्हें प्रसाद जी स्वीकार नहीं करते। तथा वे अग्रगामी विचार, वे रीतियॉ, वे प्रथाएँ तथा वे मान्यताएँ जो जीवन के लिए प्रयोग-सिद्ध हो चुकी है, उन्हे ग्रहण करने मे वे सकोच नहीं करते।

"उसे मानते नियम चल रहा जिससे जीवन"

प्रसादजी नियम, धर्म तथा संस्कृति जीवन के लिए मानते है जीवन उनके लिए नहीं। उनके अतीत की ओर जाने तथा भारतीय संस्कृति को—अपनाने का कारण है प्रयोग-सिद्धि की प्राप्ति। वे अतीत को साधन रूप में अपनाते है साध्य रूप मे नहीं। उनका अतीत जीवन के लिए है जीवन अतीत के लिए नहीं। इसीलिए वे अतीत के उपयोगी स्वरूप को ग्रहण करते है तथा अनुपयोगी को छोड़ देते है। वे जीवन को अधिक से अधिक उपयोगी रूप मे रखना चाहते है।

यह जीवन उपयोग यही है बुद्धि आराधना।'

× × × ×
× × × ×

"लोक सुखी हो यदि आश्रय ले उस छाया मे।" सघर्ष

प्रसाद जी के इस उपयोगितावाद मे कुछ लोग जान स्टुअर्ट मिल का प्रभाव देखते है पर उन्हे स्मरण रखना चाहिए कि मिल का उपयोगितावाद भौतिक आधार पर स्थित है किन्तु प्रसाद

का उपयोगितावाद आध्यात्मिक भूमि पर खड़ा है। मिल के उपयोगितावाद का आधार है केवल शरीर किन्तु प्रसादजी के उपयो-गितावाद का आधार है शरीर तथा आत्मा दोनो। इसलिए इसे हम मिल का प्रभाव नहीं मान सकते। हाँ, कहना चाहे तो यह कह सकते है कि प्रसादजी युग के उपयोगितावाद से प्रभावित थे।

आधुनिक युग अपनी प्रत्येक प्रगति से तथा विश्व अपने प्रत्येक कोने से शक्ति का सदेश प्रतिध्वनित कर रहा है, किन्तु हम सुनते हुए भी नहीं सुन रहे हैं; क्योकि यदि हम सुनते होते तो शुद्ध शक्ति को नष्ट करने वाली रूढ़ियो को दाँत से न पकड़ते।

"और यह क्या सुनते नहीं,
विधाता का मगल वरदान।
शक्तिशाली हो विजयी बनो
विश्व मे गूँज रहा जयगान।'

आज विश्व मे जिसके पास जितनी अधिक शक्ति है वह उतनी अधिक देर तक अपना अस्तित्व संसार मे स्थिर रख सकता है। आधुनिक संसार मे मानो निर्बल को जीने का अधिकार ही नहीं है; क्योकि आज का नर तो शक्ति का खेल खेलने मे आतुर है। जिसके पास शक्ति नहीं होगी वह इस विश्व रूपी क्रीडाभूमि से निकाल दिया जायगा।

"है परम्परा लग रही यहाँ
ठहरा जिसमे जितना बल है।"

इससे प्रतीत होता है कि प्रसाद जी साम्प्रत शक्ति-युग के सच्चे सन्देश वाहक है।

बुद्धिवादी सभ्यता से उत्पन्न संकटो से पश्चिम वाले घबरा उठे है। बौद्धिक या भौतिक उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँचने पर भी उन्हे श्रद्धा या हृदय के अभाव में शान्ति, सन्तोष या

आनद नहीं मिल रहा है। उनकी तृष्णा, अतृप्ति तथा विकलता प्रतिदिन बढ़ रही है। पश्चिम के विचारक भी उसका भयानक परिणाम संहार, प्रलय तथा विश्व-युद्ध के रूप मे देखकर उसकी निन्दा कर रहे है और भारत की हृदयवादी (वन्य या ग्राम्य) सभ्यता की ओर आँख लगाये बैठे है इसका सकेत सारस्वत प्रदेश मे इड़ा के आकर्षण से विरक्त मनु की निम्नाङ्कित उक्ति द्वारा प्रकट हो रहा है।

"ले चल इस छाया के बाहर
मुझको दे न यहाँ रहने।
मुक्त नील नभ के नीचे।
कहीं गुहा मे रह लेगे।"

बुद्धिवादी भौतिक युग का खाका सारस्वत प्रदेश के दृश्य वर्णन तथा परिस्थिति-चित्रण द्वारा खींचा गया है। इस यांत्रिक युग मे मानव ने ऐसी-ऐसी मशीनो का आविष्कार कर लिया है कि वह जल, हवा, अग्नि, प्रकाश आदि के लिए प्रकृति पर निर्भर नहीं है। वह अब मशीनो से पानी बरसा सकता है, हवा चला सकता है; अग्नि बना लेता है तथा प्रकाश उत्पन्न कर लेता है। इस प्रकार अब उसे दैविक तापो से शङ्का नहीं है। वह आज दैविक तापो से रक्षा पाने के लिए अग्नि, ऊषा, वरुण, इन्द्र पवन आदि देवताओ की अनुकम्पा पर निर्भर नहीं है। अत: वह अब ईश्वर या देवता आदि से डरता नही। जिन वस्तुओ के लिए वह ईश्वर या देवताओ की कृपा पर निर्भर रहता था उनको मशीनो से उत्पन्न कर वह अब स्वावलम्बन, की धरती पर खड़ा हो गया

आज स्वचेतन प्राणी कुशल कल्पनाएँ करके।
स्वावलम्ब की दृढ धरणी पर खडा नहीं अब रहा डरा। (स्वप्न सर्ग

है। यन्त्रो द्वारा, वर्षा, धूप[२], जाड़े के कष्टो से रक्षा करने के साधन बन गए हैं। इन मशीनो से पूँजीपति देशकाल[३] का लाघव कर रहे हैं। अमेरिका या इँगलैण्ड का गाना बैठे-बैठे रेडियो द्वारा उसी समय सुन रहे है। ज्ञान, व्यवसाय तथा परिश्रम[४] का बल इन मशीनो से कई गुना बढ़ गया है। परन्तु प्रकृति पर विजय प्राप्त करनेवाली इन मशीनों से पूँजीपति वर्ग ही अधिक सुखी या लाभान्वित हो रहा है। कृषक या मजदूर वर्ग को ये यन्त्र सुलभ नहीं जिससे वह आज भी पहले ही की तरह प्रकृति[५] त्रस्त है। पर इन यन्त्रो के उपयोग से पूँजीपतियो का प्रकृत-सौंदर्य तथा शक्ति[६] जाती रही। उनका शरीर जर्जर तथा झीना हो गया। प्रकृत सौन्दर्य से हीन ये मानव विकृत सौन्दर्य वर्द्धक नये-नये[७] आभूषणो का आविष्कार कर रहे है। पूँजी-पतियो के उद्यानयुत स्वर्णकलश[८] शोभित भवन खड़े है। उन भवनो मे विलासिता का नद उमड़ रहा है। विलासी-प्रेमियो की प्रेमोक्तियाँ[९] भी सुनाई पड़ रही हैं।

---

२ वर्षा धूप शिशिर मे छाया के साधन सम्पन्न हुए। (स्वप्न सर्ग)

३ देश काल का लाघव करते ये प्राणी चञ्चल से हैं। ,,

४ बढे ज्ञान व्यवसाय परिश्रम बल की विस्तृत छाया मे। ,,

५ प्रजा क्षुब्ध हो शरण माँगती उधर खड़ी है। (सङ्घर्ष सर्ग)
प्रकृति सतत आतङ्क-विकंपित घडी घडी है।

६ प्रकृति शक्ति तुमने यन्त्रो से सबकी छीनी। (सङ्घर्ष सर्ग)
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।

७ उधर धातु गलते बनते आभूषण और अस्त्र नये। (सङ्घर्ष सर्ग)

८ स्वर्ण-कलश-शोभित भवनो से लगे हुए उद्यान बने।

९ क्रन्दन का निज अलग एक आकाश बना लूँ।
उस रोदन मे अट्टहास हो फिर तुमको पा लूँ। (सङ्घर्ष सर्ग)

वैज्ञानिक यन्त्रो-द्वारा हम देशकाल की सीमा पार कर एक दूसरे के अति निकट हो गये हैं किन्तु व्यावसायिक बुद्धिवादी भौतिक सभ्यता के कारण केवल शरीर ही पास है हृदय नहीं क्योकि व्यावसायिक बुद्धि स्नेह का कोमल[१०] तन्तु छिन्न कर रही है जिससे सबको अपनी-अपनी पडी है। भिन्न-भिन्न वर्गों के कारण ऐसा भेद बढ़ गया है जिसके जुड़ने[११] की कोई आशा ही नही।

प्रसादजी ने अपनी ही उक्ति द्वारा बताया है कि बुद्धि या तर्क के बल पर जितनी ही सत्य की खोज हो रही है उतना ही वह गहन होता जा रहा है। बुद्धि या तर्क के स्पर्श से वह छुई मुई की तरह लज्जित होकर सिकुड़ रहा है।

"और सत्य! यह एक शब्द तू
कितना गहन हुआ है।
मेधा के क्रीड़ा पंजर का
पाला हुआ सुआ है।
सब बातो मे खोज तुम्हारी
रट सी लगी हुई है।
किन्तु स्पर्श से तर्क करो के
बनता छुई मुई है।"

यह उक्ति मिथ्याभूत से गृहीत इस बुद्धिवादी युग की मिथ्या प्रवृत्ति की ओर सकेत कर रही है कि इसमे (श्रद्धा) हृदय को ठुकराकर केवल बुद्धि या तर्क द्वारा असत्य को सत्य तथा सत्य

---

१० अपनी अपनी पडी सभी को छिन्न स्नेह का कोमल तन्तु।

११ वर्गों की खाई बन फैली कभी नहीं जो जुडने की। स्वप्न सर्ग

को असत्य सिद्ध करने का प्रयास पग पग पर हो रहा है जिससे सत्य का स्वरूप प्रति दिन सिकुड़ता जा रहा है और मिथ्या का राज्य प्रति दिन बढ़ रहा है।

इस बुद्धिवादी युग मे शासकवर्ग चिर स्वतंत्र[1] होकर निर्बाधित अधिकार भोगना चाहता है। वह अपने ही बनाये हुए नियमो[2] का पालन स्वय नहीं करता। वह अपने को चिरबन्धन[3] हीन मानकर अपने अधिकारो का स्वात्म के लिए उपयोग ही नहीं प्रत्युत उपभोग भी करना चाहता है। वह अधिकारो की मोहमयी[4] माया के कारण अपने व्यक्तिगत चरित्र को सामाजिक जीवन से अलग रखना चाहता है। वह अपनी स्थिति[5] तथा रक्षा के लिए नियम बनाता है, प्रजा-पालन या रक्षा के लिए नहीं। यदि प्रजा उसके[6] हाँ में हाँ न मिलाये तो बड़ी अपराधी मानी जाती है।

इस यांत्रिक युग मे ऐसे यंत्रो तथा शस्त्रो का[7] आविष्कार हो गया है जिनका स्वप्न में नाम नहीं सुना गया था। इससे मानव की शक्ति बहुत बढ़ गई है। परन्तु इस शक्ति से

---

१ मै शासक में चिर स्वतंत्र × × २०६ संघर्ष
तनिक न मै स्वच्छन्द, स्वर्ण सा सदा गलूँ मैं १६८ ,,
२ वशी नियामक रहे, न ऐसा मैंने माना। १६६
३ मैं चिर बन्धन हीन × × × १९९ ,,
४ अधिकारो की सृष्टि और उनकी वह मोहमयी माया १६४ स्वप्न०
५ आज कहाँ वह शासन था जो रक्षा का था भार लिये १९३ ,,
६ हाँ मे हाँ न मिलाऊँ तो अपराध बडा है २०५ संघर्ष
७ शस्त्र यंत्र बन चले न देखा जिनका सपना २०४ ,,

मानव आज ऐसा खेल[८] खेलने मे आतुर है, जिसमे प्रतिदिन भीपण जन[९]-संहार हो रहा है, जिससे सामूहिक[१०]वलि का निराला पन्थ निकल गया है, रुधिर-भरी[११] वेदियो मे भयंकर ज्वाला जल रही है। इससे शासकवर्ग न तो स्वय सुख[१२] से जी रहा है और न प्रजा को सुख से जीने दे रहा है। इस[१३] प्रकार बुद्धिवाद मानव को अग्नि-सदृश भस्म कर रहा है।

पात्रो के कार्यों से युग और काल की व्यञ्जना मार्मिक पर बहुत ही प्रच्छन्न हुआ करती है। अतीत काल के, पात्रो के कार्यों मे जहाँ जहाँ वर्तमान जीवन की अनुरूपता मिलेगी वहाँ वहाँ साम्प्रत जीवन की व्यञ्जना हो सकती है। इसे ऐतिहासिक पुनरावर्तन कहे चाहे ऐतिहासिक अनिवार्यता, पर यदि कवि की वृत्ति उसके वर्णन या चित्रण मे तनिक भी रमी है तो उससे युग और काल की ओर सन्देश ग्रहण किया जा सकता है। विगत वैभव पर मनु का प्रलाप किसी भी देशभक्त हिन्दू नवयुवक के स्मृतिचिह्नावशिष्ट गौरवपूर्ण अतीत पर किये हुए क्रन्दन की ओर संकेत कर सकता है—

८	आज शक्ति का खेल खेलने में आतुर नर।		सघर्ष
९	भीषण जन-संहार आप ही तो होता है	२०९	,,
१०	सामूहिक बलि का निकला था पंथ निराला	,,	,,
११	रुधिर भरी वेदियाँ भयङ्करी उनमे ज्वाला	२०४	,,
१२	जीने दे सबको फिर तू भी सुख से जी लो	२०९	,,
१३	यह सारस्वत देश या कि फिर ध्वंस हुआ सा	२०४	,,
	समझो तुम हो अग्नि और वह सभी धुआँ सा	२०४	,,

"सब कुछ थे स्वायत्त विश्व के
वल वैभव आनन्द अपार।
× × × ×
कीर्ति दीप्ति शोभा थी नचती
अरुण किरण सी चारों ओर
× × × ×
शक्ति रही हाँ शक्ति; प्रकृति थी
पद-तल मे विनम्र विश्रान्त
× × × ×
सुख केवल सुख का वह संग्रह
केन्द्रीभूत हुआ इतना।
छाया-पथ मे नव तुषार का
सघन मिलन होता जितना।
× × × ×
सौरभ से दिगन्त पूरित था
अन्तरिक्ष आ लोक अधीर
× × × ×
रत्न-सौध के वातायन जिनमे
आता मधु मदिर समीर।
गया सभी कुछ गया ....."

श्रद्धा के यहाँ से मनु का पलायन आध्यात्मिक जीवन से आधुनिक मानव के पलायन की ओर सकेत कर रहा है। इड़ा की ओर मनु के झुकाव तथा आकर्षण द्वारा साम्प्रत बुद्धिवाद की ओर मानव का आकर्षण दिखाया गया है। बुद्धिवाद का प्रश्रय लेनेवाली जातियाँ किस प्रकार भौतिक विकास कर रही है यह सारस्वत प्रदेश के भौतिक विकास मे दिखाई पड़ता है।

अन्ततोगत्वा श्रद्धा के अभाव मे इस बुद्धिवाद का परिणाम क्या होगा; यह मनु की दुर्दशा द्वारा कवि ने दिखाया है। मनु को शान्ति या आनद तभी मिलता है जब वे श्रद्धा के सत्स्वरूप को पहचानकर उसे शरीर से ही नहीं वरन् आत्मा से भी अपना लेते है उसी प्रकार बुद्धिवादियो को आनंद तभी मिलेगा जब वे आध्यात्मिक सस्कृति के आत्मतत्व को अपना लेगे। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि आध्यात्मिक सस्कृति के होते हुए भी हम भारत-वासियों को शान्ति या आनद क्यो नही मिलता। शान्ति या आनंद तो दूर रहा, हम रोटी के टुकडों के लिए क्यो तरसते हैं। इसका कारण यही है कि मनु की तरह हम अपनी आध्यात्मिक सस्कृति के शरीर या ढाँचे (रूढ़ियों) पर ही मोहासक्त है। हमारी संस्कृति के ठीकेदार वे है जिन्हे मनु की तरह आध्यात्मिक सस्कृति का सत्स्वरूप (समन्वय, लोक धर्म, प्रेम तत्त्व, सेवा, करुणा, सामाजिक समानता, उदारता, भिन्न-भिन्न वर्णों की ही नहीं वरन् मानव मात्र की एकता आदि) ज्ञात नही। हमारे सांस्कृतिक विधि-निषेधो का दुर्वह भार आज उनके ऊपर है जो मनु के समान अपने क्षणिक वैयक्तिक स्वार्थों मे आसक्त है।

इस बुद्धिवादी युग में लोगो का व्यक्तिगत जीवन किस प्रकार सामाजिक जीवन से अलग हो रहा है। समाज मे उनका स्वाँग कुछ है और व्यक्तिगत जीवन मे कुछ और। इस प्रकार व्यक्तिगत जीवन के नैतिक, आचार-विचार का सम्बन्ध सामाजिक जीवन से टूट रहा है। व्यक्तिगत जीवन की अनीति, अनाचार, पतन आदि को लोग आज पाप नही मानते जब तक कि वह समाज को ज्ञात न हो। इस आडम्बर तथा खोखलेपन से आज समाज मे कैसी अशान्ति, उपद्रव तथा विशृङ्खलता उत्पन्न हो रही है उसे कवि ने मनु के सारस्वत प्रदेश के चरित तथा कार्यों द्वारा दिखाया है।

शासक-शासित तथा व्यक्ति समाज के सन्तुलन-भङ्ग से आज जो परिणाम हो रहा है वही परिणाम सारस्वत प्रदेश में हुआ। शासन-कला का उद्देश है शासक तथा शासित में सन्तुलन स्थापित करना। इसी सन्तुलन के भङ्ग से प्रजा विद्रोह करती है, परन्तु इतने पर भी जब शासक समन्वय-स्थापन की उपेक्षा कर अपनी अहमहमिकता के कारण नैतिक आदर्श से च्युत होने पर भी शासित-समाज को कुचलाने के लिए बर्बरता या बल का प्रयोग करता है तब समाज भी अन्तिम अवस्था मे मृत्यु निकट देख लड़कर मर जाने मे ही अच्छा समझता है। अत. वह भी बल का प्रयोग करता है। अन्ततोगत्वा ऐसे बर्बर शासक की दशा वैसी ही होती है जैसी मनु की हुई। मनु के बर्बर शासन द्वारा प्रसाद जी आधुनिक शासन-विधि की बर्बरता की ओर सकेत कर रहे है कि वह कितनी अपूर्ण, अपरिपक्व तथा आसुरी वृत्ति से भरी है, शासक किस प्रकार आज प्रजा की रक्षा नहीं भक्षा कर रहे है, प्रजा का पालन नहीं रक्त चूस रहे है, प्रजा को बलवान् नहीं निर्बल बना रहे है तथा अपनी अहमहमिकता के प्रदर्शन के लिए प्रजा की बलि दे रहे है।

मानव-समाज के दुहरे उद्देश्य है व्यक्तिगत ध्येय की साधना और प्राप्ति के साथ-साथ सामाजिक ध्येय तथा साधना की प्राप्ति। जिस प्रकार व्यक्तिगत हित का ही ध्यान रखना एकांगी दृष्टिकोण है तद्वत् समाज के ही हित का ध्यान रखना एकमुखी साधना। जब कोई व्यक्ति किसी समाज के हित मे बाधक होने लगता है तो वह समाज उस व्यक्ति को ध्वस्त करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। उसी प्रकार जब कोई समाज व्यक्ति के हित या ध्येय की उपेक्षा करने लगता है तो वह व्यक्ति उस समाज को नष्ट करने के लिए अपने को उत्सर्ग कर देता है। इस भूतल पर

जितनी क्रान्तियाँ तथा गृहयुद्ध हुए उनका मूल कारण इसी सन्तुलन का अभाव रहा है। अर्थात् मानव समाज के इतिहास की चिर समस्या व्यक्ति और समाज का सन्तुलन है और आज की क्रान्तियो, विप्लवो, आन्दोलनो एवं गृहयुद्धो का कारण भी इसी सन्तुलन का अभाव है। आज का बुद्धिवादी भौतिक प्राणी किस प्रकार अपने क्षणिक व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए सामाजिक हित की बलि कर रहा है; यह मनु के उस कार्य द्वारा व्यञ्जित हो रहा है जहाँ वे अपने क्षणिक विलास की तृप्ति मे आतुर हो प्रकृत-त्रस्त विकम्पित प्रजा की आर्त पुकार नहीं सुनते।

श्रद्धा तथा इड़ा दोनो की स्वतन्त्र गति एवं प्रेम द्वारा नारी-स्वातत्र्य-समस्या की ओर कवि संकेत कर रहा है। प्रसाद जी आधुनिक नारी-स्वातंत्र्य आन्दोलन का समर्थन करते है। इसका आभास उनके नाटको मे भी यत्र तत्र मिलता है। वे नारी-स्वातत्र्य समस्या के विषय मे पण्डित जवाहरलाल नेहरू के निम्नाङ्कित मत से पूर्ण सहमत थे—"हमारे समाज की रचना का बुनियादी पत्थर स्त्री-स्वातंत्र्य होना चाहिए और उसी आधार पर समाज का निर्माण होना चाहिए क्योकि हमारे समाज की इमारत की नीव नारी देती हैं।" हमारे वैदिक समाज मे स्त्रियो को पूर्ण स्वतंत्रता थी। उन्हे सामाजिक उन्नति के सभी अधिकार प्राप्त थे। वे गृहदेवी के समान अर्चनीय थीं। इसी लिए वह समाज उन्नति के शिखर पर स्थित था। पर आज की नारी को कोई अधिकार नहीं। जब वह गृहदेवी मानी जाती है तब अधिकार शून्य है और जब उसे अधिकार मिल जाता है तो वह गृहदेवी नहीं। अधिकार-शून्य देवी बनना नारी-जीवन के लिए एक विडम्बना है और अधिकार पूर्ण दासी बनना जीवन का अपमान। इसी लिए नारी आज अपने चिर खोए अधिकार पूर्ण नारीत्व को प्राप्त करने में सतत

प्रयत्नशील है पर स्वार्थी पुरुष नारी को सदा दासी रूप में रखना चाहता है; उसे विलास और वासना की तृप्ति का प्याला बनाना चाहता है। जब कभी इस प्याले के भरने में नारी कमी करती है तो वह उन्मादी पुरुष मदिरा-हीन मिट्टी के प्याले के समान उसे ठुकरा देता है जिसका परिणाम तलाक प्रथा के रूप में आज हम समाज में देख रहे हैं। विलासी मनु भी श्रद्धा को अपनी वासना-तृप्ति मे कुछ कमी ही देखकर तलाक देकर भाग जाते हैं। श्रद्धा के स्वयंवरण से कवि यह संकेत करता है कि आज जाग्रत् नारियाँ स्वयवरण का अधिकार लेने का प्रयत्न कर रही हैं। नारी को यह अधिकार प्राचीन काल मे प्राप्त था। बाद को स्वार्थी लोलुप पुरुष ने उससे छीन लिया जिससे वह योग्य पति को न पाकर अपने दुर्भाग्य पर जीवन भर रोती है। उसके वेदनामय आँसुओं से समाज की शिला कट रही है। उसका क्रन्दन समाज मे हाहाकार मचाये हुए है। पर स्वार्थी मदमत्त मानव ने उसके क्रन्दन पर कभी ध्यान ही नहीं दिया। इसी लिए वह आज अपने अधिकार को प्राप्त करने के लिए अपने पैरो पर खड़ा होना चाहती है। स्मरण रखना चाहिए कि प्रसाद के नारी-स्वातंत्र्य का अर्थ पश्चिमी नारी स्वातंत्र्य नहीं है। वे भारतीय दृष्टि से नारी-स्वातंत्र्य के समर्थक है जिसमे नर और नारी मे समरसता हो; एक दूसरे के अधिकारो, हितो तथा स्वार्थों की रक्षा करें।

कामायनी की अधिकाधिक काल्पनिक घटनाएँ आधुनिक समस्याओ की ओर संकेत कर रही है। विलासी, विकृति पूर्ण आडम्बर से भरी नागरिक सभ्यता से लोग ऊब गये हैं। नगरों से ग्रामो की ओर भाग रहे है। उनकी इस रुचि का संकेत मनु के सारस्वत नगर की पलायनवाली घटना से मिलता है। प्रसादजी स्वयं नागरिक सभ्यता से अरुचि रखते थे। उनकी इस रुचि

का चित्रण 'एक घूँट' मे 'विवेक' की निम्नाङ्कित उक्ति में स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। "विवेक—तुम लोगो ने नगर बनाकर धोखे की टट्टियो और जालों का प्रस्तार किया है; तुम्हीं मुँह के बल गिरोगे। लौट चलो नैसर्गिक जीवन की ओर; क्यों कृत्रिमता के पीछे दौड़ लगा रहे हो ?" प्रसाद जी नगर-निर्माण, विलासशील प्राणियों के प्रयत्न का परिणाम मानते थे। इसी लिए उन्होंने कामायनी के पहले एक घूँट में अरुणाचल आश्रम वासियों के जीवन में ग्रामीण तथा नागरिक जीवन की संधि दिखाई है। कामायनी में भी यही संधि तीर्थाटनवाली घटना से दिखाई गई है। सारस्वत नगर के निवासी कैलास आश्रम पर पहुँचते हैं जहाँ सं'न्यस्त मनु ध्यान-निरत हैं, श्रद्धा सुमनो की अञ्जलि भर कर खड़ी है। इस अभेद-भाव से भरे तपोवन मे आने से नागरिको की सारी कृत्रिमता, आडम्बर, धोखा, विलास आदि सभी पार छूट जाते हैं। इस घटना से कवि ने आश्रम तथा तीर्थाटन के मूल मे निहित वैज्ञानिक सिद्धान्त की व्याख्या के साथ-साथ उसके सामयिक अनुशीलन की आदर्श विधि भी सामने रखी है। नागरिक सभ्यता को अपनी विकृति, विलास, अहंभाव, आडम्बर, बाह्य आकर्षण, छल, प्रपंच आदि भौतिक तत्त्वों का अतिवाद दूर करने के लिए ग्राम्य या वन्य सभ्यता से मिलना चाहिए। तद्वत् भौतिक विकास तथा भौतिक शक्तियों की वृद्धि के लिए ग्राम्य सभ्यता को नागरिक सभ्यता से मिलना चाहिए। तीर्थाटन के मूल मे अन्तःशुद्धि की भावना वर्तमान है। सारस्वत नगर के तीर्थ-यात्री कैलास तीर्थ में जाकर श्रद्धा और मनु के दर्शन से पवित्र हो जाते हैं। उनकी अन्तरात्मा निर्मल हो जाती है; भेद-बुद्धि नष्ट हो जाती है, अखण्ड आनन्द का दर्शन होता है। इस प्रकार वर्ण, आश्रम, तीर्थ, नारी, धर्म, अधिकार राजा-प्रजा के कर्तव्य आदि की वैज्ञानिक

व्याख्या तथा सामयिक रूप बताते हुए प्रसाद जी ने मनुस्मृति के सामयिक अनुशीलन की विधि पाठकों के समक्ष रखी है। सारस्वत नगर का विप्लव इस बात की ओर संकेत कर रहा है कि अध्यात्म (हृदय या श्रद्धा) के अभाव में बुद्धि की भित्ति पर स्थित साम्यवाद या संघ-वाद, किसी न किसी दिन सामन्तवाद में परिणत हो सकता है और वह हमारे लिए उतना ही दुखदायी होगा जितना सम्प्रति सामन्तवाद, राजतंत्र या लोकतंत्र हो रहे हैं। संघवाद में सुन्दर से सुन्दर भौतिक नियमों, बौद्धिक नियंत्रणों के रहते हुए, वर्गभेद, वर्णभेद, जातिभेद के मिट जाने पर, वैयक्तिक सम्पत्ति न रहने पर, सबको उन्नति या विकास का समान अवसर मिलने पर; परिवर्तनशील भौतिक आनन्द की वृद्धि हो सकती है। भौतिक सुविधाएँ अधिक से अधिक मिलने पर भौतिक कठिनाइयाँ दूर हो सकती है। भौतिक दृष्टि से सामाजिक या राजनीतिक सुधार विकास की अन्तिम सीढ़ी पर पहुँच सकता है; परन्तु श्रद्धा (हृदय) या अध्यात्म के अभाव में साम्य,स्वातन्त्र्य, एकता, सबके अधिकार,कर्तव्य, रक्षा, शान्ति आदि की स्थापना स्थायी रूप से समाज में नहीं हो सकती। सारस्वत नगर में प्रथम इड़ा (बुद्धि) द्वारा स्थापित साम्यवाद ही तो था; परन्तु श्रद्धा या अध्यात्म के अभाव में वह सामन्तवाद का रूप धारण कर लेता है। श्रद्धा या अध्यात्म के अभाव में साम्य, कर्तव्य, तथा अधिकार से मनुच्युत हो जाता है। प्रकृति त्रस्त प्रजा की रक्षा का ध्यान छोड़ देता है। परिणामतः समाज में विप्लव तथा क्रान्ति तुरत उत्पन्न हो जाती है। जब तक किसी राष्ट्र या जाति में स्वार्थ तथा अहमहमिका की भावना रहेगी तब तक हिंसा या युद्ध की प्रवृत्ति दूर नहीं हो सकती और जब तक हिंसा या युद्ध की प्रवृत्ति

दूर नहीं होगी तब तक समाज मे साम्य, स्वातन्त्र्य, एकता, शान्ति, सुख आदि की रक्षा स्थायी रूप से नहीं हो सकती। तब प्रश्न यह है कि अहमहमिका तथा स्वार्थ की भावना दूर कैसे हो? अहमहमिका तथा स्वार्थवृत्ति दोनो भीतरी रोग है अतः उनको दूर करने के लिए ऐसी दवा की आवश्यकता है जो भीतर पहुँच सके। भौतिक साम्यवाद तो ऐसी दवा देता है जिसका प्रभाव केवल बाहर ही बाहर पड़ता है। भौतिक नियमों तथा नियंत्रणो का प्रभाव केवल शरीर पर पड़ सकता है मन या आत्मा पर नहीं। इसी मन या आत्मा पर प्रभाव डालने के लिए अध्यात्म की आवश्यकता है। बिना अन्तरात्मा को जगाए, बिना विश्वात्मा की कल्पना किए, बिना अपने को उस विश्वात्मा की इकाई माने भाई भाई का साम्यमूलक भाव आ ही नहीं सकता। साम्य आए बिना अहमहमिका का नाश नहीं हो सकता और बिना अहमहमिका के लोप हुए स्वार्थवृत्ति का दमन नहीं हो सकता। निष्कर्ष यह कि आत्मा, ईश्वर या अध्यात्म की कल्पना के बिना क्षमा, उदारता, दम, सहानुभूति, प्रेम, समता, एकता, स्वतंत्रता आदि भाव टिकाऊ नहीं हो सकते। इस विचार को प्रसाद जी ने तितली में स्पष्ट कर दिया है "जब ईश्वर-भाव या आत्मा का निर्वासन होगा तो सब लोग दया, क्षमा, उदारता, सहानुभूति और प्रेम के उद्गम से अपरिचित हो जायँगे जिससे ये व्यवहार टिकाऊ नहीं होगे। प्रकृति में विषमता तो स्पष्ट है। नियन्त्रण के द्वारा उसमें व्यावहारिक समता का विकास न होगा। भारतीय आत्मवाद की मानसिक समता ही उसे स्थायी बना सकेगी। यांत्रिक सभ्यता पुरानी होते ही ढीली हो कर बेकार हो जायगी। उसमे प्राण बनाए रखने के लिए व्यावहारिक समता के ढाँचे मे या शरीर में भारतीय साम्यवाद या आत्मवाद की आवश्यकता है। मैं मानता

हूँ पश्चिम एक शरीर तैयार कर रहा है किन्तु उसमें प्राण संचार करना पूर्व के अध्यात्मवादियों का काम है। यहीं पूर्व और पश्चिम का वास्तविक साम्य होगा जिससे मानवता का स्रोत प्रसन्न धारा में बहा करेगा।" साम्यवाद तथा आत्मवाद (भौतिक तथा आध्यात्मिक समता) के संयोग से भावी मानवता का कल्याण; इड़ा तथा मानव के मधुर मिलन से उत्पन्न शान्ति, समता, एकता स्वतंत्रता, आनंद आदि की रचा द्वारा सिद्ध किया गया है।

मानव अपने जीवन की रक्षा से ही सन्तुष्ट नहीं हो सकता। वह पूर्णता के लिए उसका विकास भी चाहता है। रक्षा के लिए वह समाज और परिस्थितियों में शान्ति चाहता है। रक्षा से निश्चिन्त होने पर पूर्णता के लिए विकास पथ-पर चलता हुआ स्वयं परिवर्तन की सृष्टि करता है। इस प्रकार स्थिरता के पश्चात् परिवर्तन तथा परिवर्तन के पश्चात् स्थिरता का क्रम विकास शील समाज में निरन्तर चला करता है। स्थिरता के बिना परिवर्तन तथा परिवर्तन के बिना स्थिरता की परिस्थिति तथा अवसर नहीं उत्पन्न हो सकता। अतएव मूलतः स्थिरता और परिवर्तन में कोई विरोध नहीं वरन् जन्य जनक सम्बन्ध है। परन्तु संकुचित या एकागी दृष्टि वाला व्यक्ति स्थिरता से इतना मोहासक्त हो जाता है कि मगलकारी परिवर्तन के स्वयमेव आनेपर भी उसे ठुकरा देता है। यह उसके जीवन की विडम्बना है कि परिवर्तन की परिस्थियों का स्वयं निर्माण करते हुए भी उसके आने पर आश्चर्य करता है; यह उसकी दुर्बलता है कि परिवतेन के बिना समाज मे दुर्व्यवस्था का अनुभव करते हुए भी उससे कोसो दूर भागना चाहता है; यह उसका दुस्साहस है कि वह विकासोन्मुख परिवर्तन की परिस्थितियों को दूर करने की प्रकृति-विरुद्ध विफल चेष्टा करता है। दूसरी ओर परिवर्तनवादी व्यक्ति या समाज

नूतनता का इतना प्रेमी हो जाता है कि वह अन्धानुकरण करने लगता है। अवसर-अनवसर देश-काल तथा परिस्थिति का विचार नहीं करता, बस परिवर्तन चाहता है। नूतनता के पीछे इतना पागल हो जाता है कि जीवन के उत्थान-पतन का ध्यान नहीं रखता; साधन और साध्य का अन्तर नहीं समझता। वह तनिक भी नहीं सोचता कि जीवन को समझने के लिए अतीत की ओर देखना आवश्यक है; क्योंकि समाज के अतीत-अनुभव के आधार पर ही भविष्य का विकास-क्रम निश्चित किया जा सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि दोनों तरह के अतिवादी समाज में आज अधिक मात्रा मे उत्पन्न हो गये हैं। यदि दोनो मे समन्वय स्थापित नहीं हुआ तो समाज मे घोर विप्लव तथा क्रान्ति की आशंका है। वर्तमान समाज की इस आवश्यकता.—दोनो प्रकार के अतिवादियो की सन्धि या समन्वय को प्रसाद जी भली भाँति समझते थे। अतः उन्होने दोनो की सन्धि का द्वार कामायनी में उपस्थित किया। इसी लिए कुछ आलोचक कामायनी को दो भिन्न युगो का सन्धि-द्वार मानते हैं। भारतीय ऋषियों का हृदयवाद वाला युग तथा पश्चिम का आधुनिक बुद्धिवादी युग इस सन्धि मे जुड़े है जिससे धर्म और शक्ति, हृदय और बुद्धि, प्रवृत्ति और निवृत्ति, भौतिक और आध्यात्मिक संस्कृति एव ग्राम्य तथा नागरिक सभ्यता का समन्वय हो रहा है।

जिन क्षणों मे प्रसाद के साहित्यिक जीवन की सृष्टि हुई थी वे क्षण भारत में गान्धी युग के नाम से पुकारे जाते है क्योंकि उन क्षणो मे भारत का सबसे अधिक निर्माण गान्धी द्वारा हुआ; विशेषतः कामायनी की रचना उन क्षणो मे हुई जिस समय गान्धी का व्यक्तित्व भारत में अपने प्रभाव की चरम सीमा पर था। अतः प्रसाद की कामायनी गत विचार-धाराओ पर गान्धी का प्रभाव

पड़ना आवश्यक था। (कामायनी के प्रसाद पर गान्धी का प्रभाव स्पष्ट करने के लिए दोनों व्यक्तियों की तुलना आवश्यक है। दोनो मध्यवर्गीय भावनाओं के पोषक हैं। दोनो भौतिक तथा आध्यात्मिक संस्कृति की समरसता चाहते हैं। अतः दोनों अति उद्योगीकरण तथा मशीनों का विरोध करते हैं। दोनों अहिंसा तथा ग्रामोद्योग के प्रेमी है (प्रसाद का श्रद्धा के हाथ में तकली रखना तथा उससे अहिंसा पर एक लम्बा उपदेश इस बात को पुष्ट करता है)। दोनो भारत को यांत्रिक बुद्धिवादी सभ्यता के अभिशाप से बचाना चाहते हैं, दोनो की धार्मिक भावनाएँ अत्यन्त विराट् तथा व्यापक है। दोनो धर्म की रूढ़ियों के कट्टर विरोधी है। दोनों हिन्दूधर्म की रूढ़ियों का खण्डन करते हुए उसके आत्मतत्त्व को स्वीकार करते है। जिस प्रकार गान्धी सभी धर्मों के सार या सत्वस्तु को ग्रहण करने के लिए तैयार रहते है तद्वत् प्रसाद भी। धार्मिक कट्टरता किसी में नही है। दोनो की धार्मिक भावनाएँ विश्व के लिए मानव-धर्म का स्वरूप खड़ा कर सकती है। दोनो संस्कृति का पुनरावर्तन चाहते हैं। दोनों प्रवृत्ति निवृत्ति के समन्वय के पोषक है। गान्धी और प्रसाद दोनो प्रेम (काम) को मनुष्य जीवन का प्राकृतिक नियम मानते है। गान्धी अपनी जाति तथा देश से बाहर प्राणि मात्र के साथ ऐक्य-स्थापन का उपदेश देते है; कामायनी का भी तो यही मूल उपदेश है कि हम पर को स्वात्म कैसे करें।

कवि का हृदय जितना विशद,विस्तृत, तथा व्यापक होगा उतना ही उसके युग का चित्रण भी व्यापक होगा। कुछ कवि अपनी व्यक्तिगत सत्ता के कुछ ही बाहर जाते हैं। कुछ अपने पड़ोसियों तक रह जाते है; उनसे बड़े कवि अपने राष्ट्र तक जाते हैं तथा सर्वश्रेष्ठ कवि विश्व की प्रगति दिखाने मे समर्थ होते हैं। कामायनी

में विश्व प्रगति की आत्मा का चित्र देखकर कौन नहीं कहेगा कि प्रसाद विश्व के श्रेष्ठ कवियों मे अपना स्थान बना सकते हैं।

निर्बल या सामान्य कवि प्रभाव रूप में युग की विचार धाराओं का दास होता है। वह जो कुछ अपने चारो ओर देखता है वही चित्रित करता है किन्तु समर्थ कवि युग की समस्याओ का चित्रण ही नहीं उनका सुलझाव भी उपस्थित करता है। वह युग की विचार-धाराओ का निरूपण ही नहीं करता प्रत्युत उनका उपयोगी तथा अनुपयोगी स्वरूप भी बताते चलता है। उपर्युक्त विवेचन में यह बताया जा चुका है कि प्रसादजी ने युग की समस्याओं का चित्रण उनके समाधान तथा सुलझाव के साथ किया है। इस दृष्टि से प्रसाद निर्विवाद समर्थ कवि हैं। समस्याओ के समाधान में प्रसाद जी गुप्त जी की तरह नीतिवादी नहीं है। गुप्त जी का आदर्श सीधा रास्ता सीधा तथा सीधा समाधान है। जीवन तत्त्व के वैषम्य का निर्वाह या समाधान वे नहीं कर सकते। प्रसादजी ने कामायनी मे श्रद्धा के अहिंसा उपदेश के अतिरिक्त अन्य कहीं भी नीतिवादी रूप नहीं धारण किया है। प्रसाद का जीवन-पथ विषम, समस्याएँ विपम तथा समाधान भी विषम है।

गुप्त जी की मानवता मे जीवनव्यापी संघर्ष नहीं उनमें मध्य-वर्गीय सन्तोष है। प्रसाद जी की मानवता मध्यवर्गीय भावनाओं से अनुप्राणित होते हुए भी जीवन-संघर्षों का सामना करने के लिए प्रतिक्षण तैयार रहती है। उसमे मध्यवर्गीय सन्तोष नहीं प्रत्युत विकासोन्मुख असन्तोष का वेग है। प्रेमचन्द व्यक्ति, देश तथा जाति की सभी समस्याओ का कोना-कोना झाँक आये परन्तु वे विश्व-जीवन की समस्याओ की ओर नहीं बढ़ सके किन्तु प्रसाद जी ने व्यक्ति, देश तथा जाति के साथ-साथ विश्व की प्रमुख समस्याओ की ओर भी दृष्टिपात किया और उनका स्वरूप तथा समाधान दोनो कामायनी मे चित्रित किया। प्रसाद जी वैज्ञानिक प्रगतिवादी थे; केवल विज्ञान-प्रधान प्रगति वे नहीं चाहते थे।

परिशिष्ट [१]

कामायनी में काम का स्वरूप

मनुष्य की यह स्वाभाविक इच्छा है कि मैं सदा विद्यमान रहूँ। उसकी यह इच्छा 'अहम् स्याम्', 'अहम् बहु स्याम्' तथा 'अहम् बहुधा स्याम्' (मैं होऊँ, मैं बहुत काल तक बना रहूँ तथा मैं संख्या, आकार एवं रूप में बहुत बड़ा बनूँ) के रूप में प्रकट होती है। यह अस्मिता जब नित्य आत्मा या सूक्ष्म शरीर से सम्बद्ध होकर जीव को एषणातीत बनाकर जब उसे सत्स्वरूप में प्रतिष्ठित करती है तब काम के आध्यात्मिक स्वरूप का जन्म होता है। इसकी उत्पत्ति सर्वप्रथम सृष्टि के आदि-काल में मूल पुरुष की सिसृक्षा 'सोऽकामयत् एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेय' के रूप में प्रकट हुई। इसी लिए कुछ विद्वान् सृष्टि प्रणयन की पारमात्मिक इच्छा को काम कहते हैं, जो प्रत्येक जीव के भीतर चेतन या अचेतन रूप में विद्यमान रहती है, जो अहम् का इदम् से मेल कराती है, एक का अनेक से सम्बन्ध स्थापित करती है तथा जिसके द्वारा आत्मा अपने अस्तित्व का उपभोग करने में समर्थ होता है। काम के इस आध्यात्मिक स्वरूप की सर्वप्रथम चर्चा ऋग्वेद में मिलती है:—

> कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसोरेतः प्रथमं यदासीत्।
> सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदा प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥

मनस् का, जीवत्व का, संसार का रेतस् (बीज) काम सर्वप्रथम परमात्मा के निष्काम हृदय में था। मनीषी ऋषियों ने गहरी खोज करके हृदयस्थ परमात्मा में सत् से असत् का सम्बन्ध करानेवाले काम को प्राप्त किया। ऋग्वेद काल में

काम निर्वाण और सुकृति का द्वार माना जाता था। इसी वैदिक काम की उपासना आगम शास्त्रों में काम-कला के रूप में विकसित हुई। इस उपासना के मूल में सौन्दर्य और आनन्द की साधना निहित थी। काम के इस धर्माविरुद्ध स्वरूप के विषय में भगवान् कृष्ण ने गीता मे कहा है कि—

'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ'।

अर्थात् प्राणियों मे धर्माविरुद्ध काम के रूप मे मैं ही हूँ। इसी काम-भावना को आगे चलकर सूफियों ने प्रेम का रूप दिया। १२वीं सदी में सूफी धर्म के प्रौढ़ विद्वान् इब्न अरबी ने काम की बड़ाई बड़े रोचक ढँग से की है। काम के कायिक या भौतिक स्वरूप की घोर निन्दा करनेवाले कबीरदास जी ने भी काम के आध्यात्मिक स्वरूप के पूर्ण प्रत्यभिज्ञान तथा अनुशीलन को राम के पहचानने का परम साधन माना है—

'काम पिछाणै राम को जो कोइ जाणैं राखि'।

(कबीर-ग्रंथावली पृष्ठ ५१)

यही अस्मिता जब अनित्य आत्मा या स्थूल शरीर से बँधकर ऐषणात्रय (लोक, वित्त (आहार) तथा दार (सुत)) के रूप में प्रकट होती है तब काम के भौतिक स्वरूप का जन्म होता है। काम का यह स्वरूप स्वार्थ, विलास, अहमहमिका आदि अनात्मिक वृत्तियों से शासित होने पर क्रोध, मद, मोह, लोभ, मत्सर आदि षड्रिपुओं को उत्पन्न करता है। काम के इसी स्वरूप को भगवान् शंकर ने भस्म किया था। इसी काम का वर्णन गीता में 'संगात् संजायते काम' कामात् क्रोधोऽभिजायते आदि प्रकार से हुआ है। इस काम को जीतने का आदेश सभी ऋषियो, मुनियों तथा सन्तो ने किया है। काम की इस अवस्था मे प्रतिष्ठित व्यक्ति अपनी वासना तृप्ति के वेग में

समाज के हित अनहित, मंगल—अमंगल, नीति—अनीति, धर्म-अधर्म, तथा उचित-अनुचित का विचार नहीं करता। काम के इस स्वरूप के अनुशीलन से सृष्टि-प्रणयन नहीं अपितु सृष्टि-प्रलय होता है।

काम के सम्पूर्ण स्वरूप को समझने के लिए उसके सामान्य तथा विशेष रूपों पर भी यहीं विचार कर लेना आवश्यक है। पंच ज्ञानेन्द्रियों[1] के पाँच विषयों (रूप, रस, गन्ध, शब्द एवं स्पर्श) में प्रकृति-अनुकूल सुखद पदार्थों के अनुभव की इच्छा काम सामान्य है। इस अर्थ में काम शब्द इच्छा, वासना, तृष्णा आदि का पर्याय है। पशु प्रायः किसी एक विषय के पदार्थ में अधिक आसक्त देखे जाते हैं; जैसे हरिण शब्द में, हाथी स्पर्श में, भ्रमर गन्ध में, पतंग रूप में, मछली रस में; किन्तु मनुष्य को पाँचों विषयों के पदार्थ प्यारे हैं। इसलिए वह पंचशर का शिकार बनता है। स्त्री और पुरुष एक दूसरे के शरीर में इन पाँचो विषयों के सार का अनुभव करते हैं। इसलिए[2] स्त्री-पुरुष मिथुनता बोधक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, निकट या दूरस्थ सम्बन्ध-भावना को काम-विशेष कहते है। आज-कल काम शब्द का प्रयोग सामान्यतः इसी अर्थ में होता है।

फ्रायड काम का अर्थ केवल मैथुन काम से ही नहीं लेता। उसके काम स्वरूप के अन्तर्गत सब प्रकार के प्रेम तथा सब प्रकार

---

१ श्रोत्रत्वक्चक्षुजिह्वाघ्राणानाम् आत्मसंयुक्तेन मनसा अधिष्ठितानां स्वेषु स्वेषु विषयेषु आनुकूल्यतः प्रवृत्तिः कामः। (वात्स्यायन)

२ स्पर्श विशेष विषये तु अस्य आभिमानिक सुखानुबिद्धाफलवती अर्थप्रतीतिः प्राधान्यात् कामः। (वात्स्यायन)

के मिलन की भावना समाहित है। इसी लिए वह काम का अस्तित्व बाल, वृद्ध, युवा सभी के जीवन मे देखता है। पश्चिम-वाले अधिकतर काम को शरीरी रूप मे ही देखते है। इसका स्वरूप ऐन्द्रिक ही मानते है। इनकी भौतिक दृष्टि ऊपर उठने नहीं देती। किन्तु भारतीय दृष्टिकोण में काम अशरीरी है, रूप तथा नाम रहित है; वह विश्व चेतना की पूर्ण प्रतिमा है। वह साकार रूप होने पर मानव शरीर का रूप धारण करता है।

हमारे यहाँ बहुत पहले काम का स्वरूप समझाया जा चुका है, वह जीता जा चुका है, वह जलाया जा चुका है, वह अशरीरी बनाया जा चुका है किन्तु पश्चिम वाले तो अभी उसका स्वरूप समझ ही नहीं पाए हैं, इसी लिए उसके भीतर स्वयं जल रहे है तथा सारे संसार को जला रहे हैं। पश्चिमी सभ्यता के मोहाकर्षण मे स्त्री-पुरुष दोनो अपने स्वरूप को भूल रहे हैं। नारी पुरुष बनने के प्रयत्न में पुरुषो के वेश, वृत्ति, कार्य, चेष्टा, अधिकार आदि का अनुकरण करते हुए अपने नारीत्व को दुर्बल बना रही है; पुरुष मानो नारी बनने के प्रयत्न मे नारियो की चेष्टा, वृत्ति, स्वभाव, गुण आदि का अनुकरण करते हुए पुरुषत्व से दूर हटता जा रहा है। जब दोनो अपने ही स्वरूप को समझने मे असमर्थ है तो भला एक दूसरे के स्वरूप को कैसे समझेंगे और जब तक दोनो एक दूसरे के सत्स्वरूप को समझेंगे नही तब तक उन्हे सच्चा कामानन्द प्राप्त नहीं हो सकता। इसी कारण वह काम जो सृष्टि-प्रणयन, विश्वमैत्री, अमरत्व तथा विश्व-चेतना का प्रतीक है, जिस काम द्वारा हमारा अस्तित्व प्रकट होता है, जिस काम द्वारा हम अपने अस्तित्व का उपभोग करने में समर्थ होते है, जिससे हमारी जीवन शृंखला बढ़ती है तथा जो प्रवृत्ति-मार्ग का प्रधान साध्य है; वह लज्जा, घृणा तथा पाप का विषय

बन रहा है तथा स्त्री-पुरुष जो काम-समुद्र को पार करने के लिए एक दूसरे को नौका सदृश थे वे आज डुबानेवाले आँधी समझे जा रहे है। पुरुष की दृष्टि में स्त्री कामिनी तथा स्त्री की दृष्टि में पुरुष कामी बनकर दोनों एक दूसरे के घृणा के पात्र बन रहे हैं। काम के इस वर्तमान असत् रूप तथा तज्जनित दुर्दशा से कवि की आत्मा तड़प उठी थी, इसलिए (काम का सत्स्वरूप समझाने के लिए उसने कामायनी-जैसे महाकाव्य की रचना की। कामायनी के आरंभ में सर्वप्रथम काम का शरीरी रूप देवताओं की कामोपासना द्वारा दिखाया गया है; काम स्वयं कहता है :—

मेरी उपासना करते वे,
मेरा संकेत विधान बना।
विस्तृत जो मोह रहा मेरा,
वह देव विलास वितान तना॥
मै काम रहा सहचर उनका,
उनके विनोद का साधन था।
हँसता था और हँसाता था,
उनका मै कृतिमय जीवन था।
देवो की सृष्टि विलीन हुई,
अनुशीलन में अनुदिन मेरे।
मेरा अतिचार न बन्द हुआ,
उन्मत्त रहा सब को घेरे॥

देवताओं द्वारा उपासित काम दम्भ, स्वार्थ, विलास आदि अनात्मिक वृत्तियों से शासित है; अनित्य आत्मा या स्थूल शरीर से आबद्ध है; क्रोध, मद, मोह, मत्सर, दम्भ आदि उत्पन्न करनेवाला है। काम की इस अस्वस्थ अवस्था मे वासना सरिता का मदमत्त-प्रवाह तृष्णा का ओघ उत्पन्न करता है; जिसका संगम प्रलय-जलधि मे

होता है। काम का यह स्वरूप नितान्त धर्म-विरुद्ध, वैयक्तिक, मांसल तथा स्वार्थी होता है। काम की इस अवस्था में प्रतिष्ठित व्यक्ति अपनी वासना-तृप्ति के वेग में समाज के हित-अनहित, मंगल-अमंगल, धर्म-अधर्म, नीति-अनीति का विचार नहीं करता। कवि ने काम के इस कायिक स्वरूप का परिणाम भी बहुत उचित दिखाया है। प्रलय से बढ़कर दूसरा कुपरिणाम हो ही क्या सकता था।

अमर सन्तान होने के कारण मनु की काम-विषयक भावना भी अन्य देवताओं के सदृश ही है। ये भी कायिक काम के उपासक है। वासना-तृप्ति को स्वर्ग माननेवाले है, नारी को विलास-मदिरा पान करने का प्याला समझते हैं। यह बात मनु सम्बन्धी काम की उक्ति से अधिक स्पष्ट हो जायगी,—

"हाँ तुमने तो प्राणमयी ज्वाला का प्रणय-प्रकाश न ग्रहण किया।
हाँ जलन वासना को जीवन भ्रम तम मे पहला स्थान दिया॥

× × × ×

वासना को जीवन में प्रथम स्थान देने के कारण मनु नारी के सत्स्वरूप को पहचान नहीं सके। श्रद्धा की जड़ देह मात्र पर आसक्त होने के कारण उसके 'अमृत-धाम' कल्याण-भूमि हृदय तक नहीं पहुँच सके—

"मनु! उसने तो कर दिया दान
वह हृदय प्रणय से पूर्ण सरल जिसमें जीवन का भरा मान।
जिसमे चेतनता ही केवल निज शान्त प्रभा से ज्योतिमान॥
पर तुमने तो पाया सदैव उसकी सुन्दर जड़ देह मात्र।
सौन्दर्य जलधि से भर लाए केवल तुम अपना गरल पात्र॥"

जब तक मनु काम के इस भौतिक अस्वस्थ स्वरूप की उपासना करते रहे तब तक वे अपने अस्तित्व का उपभोग न कर सके, अहं का इदं से समन्वय स्थापित न कर सके; क्रोध, मद, मोह, लोभ, मत्सर, स्वार्थ आदि अनात्मिक वृत्तियों से भरे रहे, विलासोन्मद उच्छृंखलता के आवेग में, क्या व्यष्टि क्या समष्टि; किसी भी प्रकार की मंगल-साधना न कर सके। कामायनी महाकाव्य के प्रधान पात्र के रूप मे पाठकों के समक्ष आती है; अतः उसका काम-सिद्धान्त कवि का सिद्धान्त माना जा सकता है क्योंकि कवि अपने अन्य ग्रन्थो में भी प्रधान पात्र का पक्ष लेता हुआ दिखलाई पड़ता है। श्रद्धा काम के स्वरूप को पहचानती है इसलिए वह सदा धर्माविरुद्ध काम का पक्ष ग्रहण करती है। वह मनु के समान कहीं भी केवल कायिक काम की उपासना नहीं करती। विलास से काम-भावना को कभी शासित नहीं करती, वासना-तृप्ति को जीवन में स्थान नहीं देती; तृष्णा तथा अतृप्ति के दाह में कभी नहीं जलती। उसका काम सदा नित्य आत्मा या सूक्ष्म शरीर से सम्बद्ध है; आत्मिक वृत्तियों से सदा शासित है। अतः उसके अनुशीलन से क्रोध, मद, मोह, लोभ, मत्सर आदि षड्रिपु कभी उत्पन्न नहीं होते। कामायनी का काम विश्वमैत्री, विश्वचेतना, अमरत्व, सृष्टि-प्रणयन, विश्व उन्मीलन, व्यष्टि तथा समष्टि मंगल-साधना, आत्म-विस्तार, सिसृक्षा, मूलशक्ति, पूर्ण प्रकृति, माधुर्य, सौन्दर्य, आनन्द आदि का प्रतीक है; तभी तो उसका काम निर्वाण तथा सुकृति का द्वार बनता है; वह व्यष्टि तथा समष्टि की मंगल-साधना में सफल होती है; अपने अस्तित्व का पूर्ण उपभोग करने में समर्थ होती है, अहं का इदं से समन्वय स्थापित कर लेती है, जीवन शृंखला को उत्तरोत्तर बढ़ाने में सफल होती है, तथा अपने पतिदेव मनु के लिए

तरण-तारिणी सिद्ध होती है। इसी लिए कवि भी उसे पूर्ण (सामान्य, विशेष, आध्यात्मिक तथा भौतिक) काम की प्रतिमा मानता है।

"वह विश्व चेतना पुलकित थी पूर्ण काम की प्रतिमा।"

श्रद्धा के उपर्युक्त काम-सिद्धान्त से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रसाद जी की काम सम्बन्धी दृष्टि अत्यन्त व्यापक थी जिसके भीतर काम के सभी स्वरूप—आध्यात्मिक, भौतिक, सामान्य तथा विशेष आ जाते हैं। जैसे, काम का आध्यात्मिक स्वरूप विश्वरेतस् या विश्वोन्मीलन के रूप में देखिए—

वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई,
अपने आलस का त्याग किए।
परमाणु बाल सब दौड़ पड़े,
जिसका सुन्दर अनुराग लिए।

वह मूल शक्ति क्या थी? काम। वह कब उठ खड़ी हुई? प्रलय के पश्चात्, सृष्टि के आरम्भ मे। काम के उत्पन्न होने पर क्या हुआ? सृष्टि के अणु परमाणु में मिलने का आकर्षण उत्पन्न हुआ—

कुंकुम का चूर्ण मिलाते थे,
मिलने को गले ललकते थे।
अन्तरिक्ष के मधु उत्सव के,
विद्युत्कण मिले झलकते से।
वह आकर्षण वह मिलन हुआ,
प्रारम्भ माधुरी छाया में।

* "जब विलोड़ित जल राशि स्थिर होने पर यह द्वीप ऊपर आया; उसी समय हम लोग शीतल तारिकाओं की किरणों की डोरी के सहारे नीचे उतारे गये" कामना पृष्ठ १४

जिसको कहते सब सृष्टि बनी,
मतवाली अपनी माया में।

वह आकर्षण क्या था? रति*।

जो आकर्षण बन हँसती थी
रति थी अनादि वासना वही।
अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन के
अन्तर मे उसकी चाह रही।

उस आकर्षण तथा मिलन का क्या परिणाम हुआ? सृष्टि प्रणयन तथा विश्वोन्मीलन।

हम दोनों का अस्तित्व रहा,
उस आरम्भिक आवर्तन सा।
जिससे सस्तृति का बनता है
आकार रूप के नर्तन सा।

काम सर्ग के प्रारम्भ में कवि ने काम की बड़ी ही रम्य भूमिकाएँ बाँधी है जिनसे काम-सामान्य का अत्यन्त मनोरम रेखाचित्र चित्रित होता है। पञ्च ज्ञानेन्द्रियो के सभी विषयों—रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श के रमणीय चित्र सजाए गए है जिनके माधुर्य-पान मे मनु रत है—

"पीता हूँ, हाँ मै पीता हूँ,
यह स्पर्श, रूप, रस, गन्ध भरा।
मधु लहरो के टकराने से
ध्वनि मे है क्या गुंजार भरा।

काम विशेष का चित्र वासना सर्ग में दिखाई पड़ता है जहाँ श्रद्धा और मनु एक दूसरे के शरीर मे पाँचों विषयो के सार

---

* कामस्य द्वे भार्ये रतिश्च प्रीतिश्च।

का अनुभव करते हुए परस्पर प्रेमासक्त होते है अन्ततोगत्वा काम को मर्यादित तथा संयमित रूप देने वाले संस्कार—विवाह या परिणय में दोनो आवद्ध हो जाते है। काम के भौतिक-स्वरूप का चित्र मनु के इड़ा वाले प्रसङ्ग में मिलता है जहाँ वे अपनी विलासोन्मद उच्छृंखल-वासना-तृप्ति के वेग में सामाजिक मर्यादा, मंगल, नीति-अनीति, धर्म-अधर्म, औचित्य-अनौचित्य का विचार त्याग इड़ा के ऊपर आक्रमण करते है।

मैं अतृप्त आलोक भिखारी ओ प्रकाश-बालिके बता।
कब डूबेगी प्यास हमारी इन मधु अधरो के रस मे।

× × × ×

तब तुम प्रजा बनो मत रानी! नर-पशु कर हुंकार उठा।

× × × ×

आलिङ्गन! फिर भय का क्रन्दन! वसुधा जैसे काँप उठी।
वह अतिचारी, दुर्बल नारी परित्राण पथ नाप उठी!

अन्त मे मनु के पराभव द्वारा कवि ने इस भौतिक काम का उचित परिणाम दिखाया है। भौतिक काम का पाप उनके लिए शाप बन जाता है। केवल सारस्वत प्रदेश की प्रजा ही नही प्रत्युत् सम्पूर्ण प्रकृति भी मनु के विरुद्ध विप्लव तथा विद्रोह उपस्थित करती है। मनु के साथी भी इस विप्लव में उनका साथ छोड़ देते है। अन्ततोगत्वा रणस्थल मे मनु मुमुर्षु अवस्था मे डाल दिए जाते है। इस प्रकार मनु का काम विलास से शासित होने के कारण सर्वत्र संघर्ष, अशान्ति, उद्वेग, विध्वंस, प्रलय उपस्थित करता है।

काम की विशदता तथा व्यापकता का विस्तृत चित्र काम सर्ग मे मिलता है। काम का जन्म होते ही सृष्टि के कण-कण में मिलने

का अद्भुत आकर्षण छा गया, सभी विश्लिष्ट पदार्थ संश्लिष्ट हुए, प्रकृति के सभी तत्रों मे मधुर मिलन छा गया:—

प्रत्येक नाश विश्लेषण भी
संश्लिष्ट हुए, बन सृष्टि रही।
ऋतुपति के घर कुसुमोत्सव था
मादक मरंद की वृष्टि रही।
भुजलता पड़ी सरिताओं की
शैलों के गले सनाथ हुए।
जलनिधि का अंचल व्यजन बना
धरणी का दो-दो साथ हुए।
कोरक अंकुर सा जन्म रहा
हम दोनो साथी भूल चले।
उस नवल सर्ग के कानन मे
मृदु मलयानिल से फूल चले।

प्रसाद जी काम की शक्ति अनन्त मानते है। हमारी काम भावना के अनुसार हमारा अदृष्ट बनता है। भविष्य का सुख-दुख; उत्थान-पतन; मंगल-अमंगल मनुष्य की काम भावना के अनुसार निर्दिष्ट होता है।

यह कौन ? अरे फिर वही काम !
जिसने इस भ्रम में है डाला छीना जीवन का सुख विराम।

× × × ×

वे सोच रहे थे "आज वही मेरा अदृष्ट बन फिर आया।
जिसने डाली थी जीवन पर पहले अपनी काली छाया।
लिख दिया आज उसने भविष्य ! यातना चलेगी अन्तहीन।

मनुष्य का उत्थान-पतन, सुख-दु:ख आत्मिक तथा अनात्मिक वृत्तियों के शासन पर निर्भर है। यदि वह आत्मिक वृत्तियों

द्वारा शासित होगा तो उसका भविष्य उज्ज्वल होगा, वह दिन प्रतिदिन उन्नति करेगा, वह सदा सुखी रहेगा। यदि वह अनात्मिक वृत्तियें द्वारा शासित होगा तो उसका भविष्य यातना मय होगा, वह सदा पतित होता रहेगा। मनुष्य की काम भावना भी इन्हीं दो प्रधान वृत्तियो द्वारा शासित होती रहती है, जब काम भावना पर आत्मिक वृत्तियें का शासन होगा तब पंच ज्ञानेन्द्रियो के पाँचो विषय—रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, ऐन्द्रिक सुख के साथ-साथ सृष्टि प्रणयन तथा मगल-साधना मे योग देगे मनुष्य की काम-भावना जब अनात्मिक वृत्तियें द्वारा शासित होगी तब काम से क्रोध, मद, मोह, लोभ, मत्सर आदि षड्रिपु उत्पन्न होकर उसका सर्वनाश करेंगे। गीता में इन्हीं आत्मिक तथा अनात्मिक वृत्तियें के आधार पर काम के दो भेद किए गए है। धर्माविरुद्ध काम तथा धर्मविरुद्ध काम। धर्माविरुद्ध काम भविष्य को उज्ज्वल, मंगलमय तथा समृद्धिशाली बनाता है। धर्म-विरुद्ध काम भविष्य को यातनामय, पतनशील तथा पापमय बनाता है। हमारे सभी पाप और पुण्य की कर्ता हैं हमारी कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ। हमारी कर्मेन्द्रियो तथा ज्ञानेन्द्रियो को घुमानेवाली केन्द्रीय मशीन है हमारी काम भावना। इस प्रकार हमारे सभी पाप-पुण्य हमारी काम भावना के ऊपर निर्भर है। अतः प्रसाद जी की उपर्युक्त उक्ति में कोई अत्युक्ति नहीं है कि हमारा अदृष्ट—भविष्य का सुख-दुख, उत्थान-पतन, हमारी काम-भावना पर निर्भर है।

---

* सगात् संजायते काम: कामात् क्रोधोऽभिजायते। क्रोधात् भवति सम्मोह. सम्मोहात् स्मृति विभ्रम॰। स्मृति भ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धि-नाशात् प्रणश्यति। (गीता)

प्रसाद जी का काम सृष्टि की आरम्भिक क्रिया का प्रतीक ही नहीं वरन् विश्व-प्रगति का प्रतीक है। वे संसृति की सभी क्रियाओं, चेष्टाओं एवं समृद्धिओं का मूल कारण या प्रेरणा काम मानते है—

"आरम्भिक वात्या उद्गम मैं,
अब प्रगति बन रहा संसृति का।"

काम के इस स्वरूप के भीतर ऐषणात्रय का समावेश स्वयमेव हो जाता है क्योंकि संसृति की सभी चेष्टाओं तथा क्रियाओं की प्रेरणा भूमि उन्हीं में हैं।

प्रसाद जी की काम-भावना कामना नाटक मे अत्यन्त स्पष्ट हो गई है। विलास काम के विषय मे कहता है "प्रकृति से मिली हुई कैसी सीधी जाति है।

× × × ×

सीधी जाति पर यदि शासन न किया तो पुरुषार्थ ही क्या ?

× × × ×

मेरे कारण शीघ्र इनको (काम को) अपने पद से हटना होगा।

× × × ×

विलास :—आश्चर्य ! कैसी प्रकृति से मिली हुई जाति है। महत्व और आकांक्षा का अभाव और संघर्ष का लेश भी नहीं है।

यह जाति जीवन की वक्र रेखाओ को सीधी करती हुई अस्तित्व का उपभोग हँसती हुई कर लेती है।"

अकामस्य क्रिया काचित् दृश्यते नेह कर्हिचित्। यद्यद् हि कुरुते जन्तुः तत्तस्य कामस्य चेष्टितम्। (मनु) कामात् सर्वे प्रवर्तन्ते लीयन्ते वृद्धिमागताः। (शिवपुराण)

प्रसाद जी की दृष्टि में काम अपने सत्स्वरूप में प्रकृति का प्रतीक है। जैसे प्रकृति सृष्टि का बहिर्विकास करती है तद्वत् काम द्वारा विश्वोन्मीलन होता है। इस प्रकार उनकी दृष्टि मे काम और प्रकृति मे कोई अन्तर नहीं, काम अपने स्वाभाविक रूप मे निष्काम रहता है। अत: उसमे आकांक्षा का लेश भी नही रहता। काम अपनी विकृत अवस्था मे ऐषणात्रय या विलास से शासित होता है। काम की स्वाभाविक अवस्था में आकांक्षा या वासना का अत्यन्ताभाव रहने के कारण संघर्ष या अशान्ति का प्रवेश वहाँ नहीं हो पाता। वासना-प्रेरित काम में विलास का शासन होने के कारण काम अपने स्थान से च्युत हो जाता है; अत. वहाँ अशान्ति, संघर्ष, उद्वेग आदि का राज्य छा जाता है। कामायनी की काम-दृष्टि मानव मात्र को यह संदेश देती है कि यदि उसे अपने अस्तित्व का उचित उपभोग या उपयोग करना है तो उसे काम का स्वस्थ स्वरूप अपनाना पड़ेगा।

कामायनी में प्रेम-निरूपण

साहित्य का सबसे प्रसिद्ध तथा प्राचीनतम विषय प्रेम है। प्रेम काव्यो का बीज भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद से ही मिलता है। लौकिक संस्कृत में आकर प्रेम कथाएँ दो रूपों में दिखाइ पड़ती है। कुछ पौराणिक या ऐतिहासिक हैं तथा कुछ कल्पित। पौराणिक और ऐतिहासिक कथाएँ प्रायः प्रबन्ध काव्यों या नाटको के रूप में मिलती है। कल्पित कथा वाले प्रेम काव्य संस्कृत साहित्य की अलंकृत पद्धति में दिखाई पड़ते हैं। संस्कृत में पद्य में ही नहीं वरन् अलंकृत गद्यशैली में भी बहुत से प्रेम काव्य लिखे गये। जैसे—कादम्बरी, दशकुमार चरित, अवन्ति सुन्दरी आदि। संस्कृत के इन प्रेम काव्यो की परम्परा दसवीं शताब्दी तक चलती रही। इसके अनन्तर अपभ्रंश भाषाओ में प्रेम काव्य लिखे गये। हिन्दी में प्रेम काव्यों का उल्लेख वीर-गाथा काल से ही मिलता है। वीर-गाथा काल के सभी वीर काव्यों का मुख्य विषय एक प्रकार से प्रेम ही रहा। देश प्रेम, स्वातन्त्र्य प्रेम या किसी सुंदरी की प्राप्ति उनके युद्ध का मुख्य कारण था। वीर-गाथा काल के पश्चात् भक्ति-काल में निर्गुण और सगुण प्रेम की धारा बही। इसके पश्चात् रीति-काल में लौकिक प्रेम की व्यञ्जना साहित्य की बँधी हुई अलकृत शैली में हुई। प्रेम काव्यो की परम्परा अब भी चल रही है। पर पहले से उसका स्वरूप धीर, संयत और गम्भीर है। आधुनिक युग के साकेत, प्रियप्रवास, कामायनी आदि महाकाव्य प्रेम काव्य ही तो है। हिंदी प्रेम काव्यों के दो भेद किये जा सकते हैं। पहले वे जो शुद्ध साहित्यिक उद्देश्य को लेकर लिखे गये। दूसरे

वे जो साहित्य के साथ-साथ साम्प्रदायिक सिद्धान्तो का प्रसार भी करना चाहते थे। कहना नहीं होगा कि कामायनी का स्थान शुद्ध साहित्यिक प्रेम काव्यो के भीतर होगा।

वस्तुत. प्रसाद जी प्रेम के कवि है। उनकी सभी रचनाओं में प्रेम का सन्देश है। उनकी दृष्टि प्रेम क्षेत्र मे अत्यन्त व्यापक तथा विशद हैं। वे न भक्त कवियों के समान सदा ऊपर देखते है और न शृङ्गारिक कवियो की भाँति सदा नीचे। उनके प्रेम पथ पर लौकिक तथा अलौकिक प्रेमी सदा साथ चलते है। आध्यात्मिक प्रेमी को लोक से विरत होने की आवश्यकता नहीं, उसे केवल अनुभूति-परिवर्तन की आवश्यकता है। प्रसाद जी 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' वाले सिद्धान्त को नहीं मानते। उनकी दृष्टि मे "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" है। अखिल विश्व शिव मय है, सभी सत्य है, सभी आनन्द मय है। शक्ति-रूप किरण राशि, शिव रूप सूर्य का स्फुरण मात्र है।

शैवागमो के अनुसार 'वे शरीरं त्वं शम्भो,' के अनुयायी थे। इसीलिये वे अपने व्यावहारिक जीवन में सबको शिव मानने ही के कारण प्रभो कहकर नमस्कार करते थे। ईशोपनिषद् के "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:" के अनुसार वे जगत् को ईश का प्रसाद समझ कर सप्रेम भोग करना उचित समझते थे। उनकी दृष्टि मे जीवन की सार्थकता माया अथवा तत्प्रसूत जगत् के त्याग करने में नहीं प्रत्युत उसके आलिंगन करने मे है। प्रसाद जी के यहाँ आध्यात्मिक तथा लौकिक प्रेम का वर्गीकरण नहीं है। प्रेम के प्रत्येक स्वरूप मे आध्यात्मिकता है तथा पारमार्थिक प्रेम के प्रत्येक क्षेत्र में व्यावहारिकता। जिस प्रकार शिव तत्व और आत्मतत्व मे कोई अन्तर नहीं तद्वत लौकिक तथा अलौकिक प्रेम से कोई अन्तर नहीं है। केवल उपाधि भेद के कारण दो भिन्न

नाम आते हैं; मूलतः दोनो एक ही वस्तु है। एक आधार है तो दूसरा आधेय। दोनो का सम्बन्ध एक दूसरे की अभिव्यक्ति के लिये होता है।

लौकिक प्रेम अपने सर्वांगीण रूप में कामायनी के अन्तर्गत आया है। सात्विक प्रेम श्रद्धा के चरित्र में, तामस प्रेम मनु के जीवन में तथा राजस प्रेम इड़ा के जीवन में दिखाया गया है। कामायनी में प्रसाद का प्रेम सिद्धान्त समझने के लिये श्रद्धा की बातो को सिद्धान्त रूप मे ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि कवि ने ग्रन्थ के आरम्भ में स्वयं बता दिया है कि श्रद्धा का निर्माण महाकाव्य में प्रेम का सन्देश सुनाने के लिये हुआ है।—

यह लीला जिसकी विकस चली,
वह मूल शक्ति थी प्रेम कला।
उसका सन्देश सुनाने को,
संसृति मे आई यह अमला॥

प्रसाद जी सृष्टि विकास की मूल शक्ति प्रेम मानते हैं और प्रेम की मूल भित्ति श्रद्धा।

कामायनी का सात्त्विक प्रेम महाकाव्य में उसके व्यष्टि प्रेम, पारिवारिक प्रेम तथा विश्व प्रेम के रूप मे दिखाई देता है। श्रद्धा का व्यष्टि प्रेम दो हृदयो का एक हो जाना है जिसमें प्राप्ति की आकांक्षा नहीं, केवल उत्सर्ग ही उत्सर्ग है।

पागल रे! वह मिलता है कब
उसको तो देते ही है सब
आँसू के कन २ से गिन कर॥

(लहर)

प्रसाद का यह प्रेम वासना को स्थान नही देता, आसक्ति या मोह की गन्ध नहीं रखता। सदा चेतना के प्रकाश से

प्रकाशित रहता है। उनका यह प्रेम कायिक सौन्दर्य या दृष्टिगत सौदर्न्य की भित्ति पर स्थिर नहीं है। क्योंकि ये सौन्दर्य को कायिक या दृष्टिगत नहीं मानते वरन् चेतना का प्रसाद मानते हैं।

उज्ज्वल वरदान चेतना का,
सौन्दर्य जिसे सब कहते है।

प्रसाद जी कायिक प्रेम को बर्बरता की निशानी मानते है। क्योंकि कायिक प्रेम क्षणिक और नश्वर होता है; कायिक सौन्दर्य के नष्ट होते ही वह भी नष्ट हो जाता है। प्रसाद का व्यष्टि प्रेम जीवन और मृत्यु से परे है।

जिसके आगे पुलकित हो
जीवन है सिसकी भरता।
हाँ मृत्यु नृत्य करती है
मुसकाती खड़ी अमरता।
वह मेरे प्रेम विहँसते
जागो मेरे मधुवन मे।

(आँसू)

यह प्रेम भारतीय दर्शन तथा संस्कृति के अनुकूल है। हिन्दू संस्कृति की दृष्टि से वैवाहिक प्रेम एक ऐसा पुनीत असाधारण बन्धन है जिससे मुक्ति भारतीय नारी मृत्यु के अनन्तर शरीरान्तर मे भी नहीं चाहती। भारतीय दृष्टि से व्यष्टि प्रेम एक ऐसा सम्बन्ध सूत्र है जिसके द्वारा एक अनेक मे बँधता हुआ सदा अभेदत्व की ओर बढ़ता रहता है। श्रद्धा प्रेमिका के रूप मे करुणा तथा वीर-पूजा का भाव लिये हुये मनु के ऊपर रीझती है। मनु के उद्भ्रान्त, क्लान्त, निरुपाय, निश्चेष्ट तथा असहाय जीवन को देखकर श्रद्धा की करुणा कादम्बिनी विह्वल हो बरस पड़ती है, दुख से जली हुई मनु की संसृति प्रमुदित हो जाती है।

चर तथा अचर में प्रेम, आशा तथा उल्लास छा जाता है। श्रद्धा घने प्रेम तरु की विश्वास रूपी छाया में करुणा-कलित नारी हृदय की निधियाँ:–सेवा, दया, माया, ममता, मधुरिमा आदि लुटा देती है। प्रसाद जी ने श्रद्धा के इस आत्म-समर्पण द्वारा यह दिखाया है कि नारी हृदय के लिये परार्थ ही सबसे बड़ा स्वार्थ है। नारी हृदय ही वस्तुत: प्रेम का अधिकारी है। वही प्रेम की वेदना को पूर्णत: अनुभव कर सकता है। पुरुष का विकल्प प्रधान परुष जीवन प्रेम के अन्तराल में पूर्णत: प्रवेश नहीं कर सकता। पुरुष विजय तथा सत्त्व का भूखा होता है, नारी समर्पण की। पुरुष लूटना चाहता है, स्त्री लुट जाना। पुरुष में जिगीषा है और स्त्री में बलिदान। भारतीय संस्कृति के अनुसार प्रेम पक्ष में नारी को प्रधानता प्राप्त है। इसलिये प्रेम का प्रस्ताव नारी की ओर से प्रथम आना चाहिये। नर का प्रथम प्रस्ताव करना पतन की अवस्था का द्योतक है। वीर-पूजक भारत वासियों के यहाँ नारी के प्रथम रीझने मे लोक वाद की भावना निहित है; विलासिता या कामुकता नहीं। श्रद्धा के रीझने मे यही भारतीय भावना दिखाई पड़ती है। प्रसाद जी का प्रेम-तरुवर करुणा की भूमिका मे अधिक प्रफुल्लित होता है। प्रेम को पनपने के लिये करुणा ऐसा वातावरण तैयार करती है जिसमें उसे अनुकूल भोजन मिलता है। करुणा एक ऐसा भाव है जिसके भीतर उत्सर्ग, सेवा, दया, दान, कृपा, पुरस्कार या प्रत्यावर्तन की अनिच्छा आदि अनेक भाव अन्तर्निहित हैं। करुणा करने वाला जितनी देर तक करुणा करता है उतनी देर तक करुणा किये जाने वाले व्यक्ति से अभेदत्व स्थापित कर लेता है। अपने को उसकी भूमिका में प्रतिष्ठित कर देता है। दूसरे की सेवा या सहायता को परायी सेवा या सहायता नहीं समझता, उसे

अपनी ही सुख संसृति मानता है। यही भाव जब अधिक विस्तृत हो जाता है तो द्वयता का भेद नष्ट हो जाता है। सम्पूर्ण विश्व अपना नीड़ सा बन जाता है। सब पहचाने से लगते है। करुणा से पलित व्यक्ति मे करुणा करने वाले के प्रति स्वार्थ-सम्पृक्त प्रेम की सम्भावना हो सकती है। कुछ हद तक चेतन मन इस सीमा के भीतर आ सकता है, किन्तु उसका अचेतन मन जो उसके चेतन मन से अधिक प्रौढ़ तथा बलिष्ट है उसके करुणा-जनित शील, सौन्दर्य पर मुग्ध होकर, रीझ जाता है। इस प्रकार करुणा प्रेम की तीनो सीढ़ियाँ शक्ति-शील तथा सौन्दर्य तैयार करती है। इसीलिये प्रसाद जी शक्ति, शील तथा सौन्दर्य का नाम न लेकर प्रेम-साधना के जगत् में करुणा का ही नाम लेते हैं। श्रद्धा और मनु के प्रेमाङ्कुर को प्रस्फुटित करने के लिये उन्होंने सबसे पहले करुणा का क्षेत्र तैयार किया। प्रथम श्रद्धा को कवि ने विश्व की करुण-कामना-मूर्ति के रूप मे उपस्थित किया।

नित्य यौवन छवि से ही दीप्त
विश्व की करुण-कामना मूर्ति,
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण
प्रकट करती ज्यों जड़ मे स्फूर्ति।

दूसरे मनु को निरुपाय, असहाय, अधीर, चिन्तित, क्रन्दित दिखाकर कवि ने इन्हे करुणा का उचित पात्र बनाया। करुणा के इसी विस्तृत राज्य में श्रद्धा का प्रेम पल्लवित होता है।

मनु श्रद्धा में अपने हृदय-निहित-सौन्दर्य-प्रतिमा का दर्शन करके मुग्ध हो जाते हैं। श्रद्धा का स्वर्गीय सौन्दर्य मनु को स्तब्ध कर देता है। मनु दर्शक के रूप में सौन्दर्य-सुधा का पान करते हुए मन ही मन श्रद्धा के रूप माधुर्य की प्रशंसा करते है। यहाँ प्रेम को घनीभूत करनेवाले तीनों प्रकार के सौन्दर्य—दृष्टिगत-सौन्दर्य,

शीलगत सौन्दर्य तथा मनोवैज्ञानिक सौन्दर्य एक साथ जुट जाते है।

आकर्षण के पश्चात् जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। अतः दोनो एक दूसरे का परिचय प्राप्त कर अपनी जिज्ञासा दूर करते है। दर्शन की सुगमता से मनु का खिचाव बढ़ता जाता है; अनुराग पनपता जाता है। स्त्री, पुरुष के प्रेम का अन्तिम फल विवाह है; जिस सीमा तक श्रद्धा और मनु पहुँच जाते हैं। प्रेम का विकास अवसर के अनुकूल तथा मानव परिधि के अन्तर्गत हुआ है। संस्कृत साहित्य के प्रेम काव्यों में संयोग की अभिव्यक्ति गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन आदि की बँधी परिपाटी पर होती थी। प्रसाद जी ने संयोग-वर्णन बँधी परिपाटी से नहीं किया है। कामायनी का संयोग-वर्णन अत्यन्त शिष्ट तथा संयत है। शारीरिक अनुभावों की व्यञ्जना बड़े स्वाभाविक ढङ्ग से हुई है। प्रेमोद्दीपक परिस्थितियों का आयोजन बड़े रमणीय ढङ्ग से हुआ है। चन्द्रिका-चर्चित यामिनी मे सृष्टि हँस रही है, विधु-किरण मधु बरस रही है, सुमन पराग उड़ेल रहा है, पवन मन्थर गति से चल रहा है—इसी मधुर स्थिति मे श्रद्धा और मनु का मिलन होता है। यह मिलन केवल नारी और पुरुष का मिलन नहीं वरन् शिव और शक्ति का, प्रकृति और पुरुष का, तथा दुःख और सुख का मिलन है।

जब श्रद्धा, शारीरिक मिलन से संतुष्ट न होकर मनु की आत्मा से मिलना चाहती है तब सन्तान की उत्पत्ति होती है। मनु केवल वासना की अबाध तृप्ति चाहते है। वे आत्ममिलन या सन्तान-इच्छा से श्रद्धा से नहीं मिलते। अन्यथा वे मानव के प्रति श्रद्धा के प्यार को देख ईर्ष्यालु न होते। सन्तान उत्पन्न होने के पश्चात् श्रद्धा मे वह बेचैनी, वह उद्वेग, आलिङ्गन की वह

व्याकुलता, प्रेम की वे कुशल सूक्तियाँ, वह उल्लास, जो पूर्व राग के समय था, वह अब नही है। अब उसके जीवन मे शान्ति है, सन्तोष है। परन्तु यह अवस्था स्नेह की कमी के कारण नहीं, जैसा कि मनु समझते हैं, प्रत्युत प्रेम की पूर्णता तथा परिपक्वता के परिणाम स्वरूप है। उसे अपने प्रिय के स्वकीय होने का विश्वास है। पूर्व राग के समय इसी विश्वास को अधिक दृढ़तर बनाने के लिये उद्वेग, व्याकुलता तथा अधीरता की आवश्यकता थी। यदि वह विकलता तथा उद्वेग सदा समान मात्रा मे उपस्थित रहे तो प्रेमी और प्रिय का जीवन बिताना कठिन हो जाय, और वे सर्वदा एक दूसरे की शुश्रूषा के अतिरिक्त लोक-जीवन के लिए व्यर्थ हो जायँ। श्रद्धा का प्रेम उसे कभी कर्तव्य विहीन नहीं बनाता। वह प्रेम के उन्माद मे कभी संज्ञा शून्य नही होती। आज भी यदि प्रिय उसका कष्ट मे है तो वह दुखी है। मृगया खेल कर लौटने मे विलम्ब करने पर व्याकुल है :—

"पश्चिम की रागमयी संध्या
अब काली है हो, चली किन्तु
अब तक आये न अहेरी वे
क्या दूर ले गया चपल जन्तु।"
"यों सोच रही मन मे अपने
हाथो में तकली रही घूम।
श्रद्धा कुछ-कुछ अनमनी हो चली
अलके लेती थीं गुल्फ चूम।"
(ईर्ष्या सर्ग)

गर्भावस्था में जब श्रद्धा का प्रथम सौन्दर्य नष्ट हो गया, उसका शरीर पीला हो गया। जब उसका रूप, रंग, आकृति, हाव,

भाव, जिसके कारण मनु उसकी ओर आकर्षित हुए थे कम हो गया तो उनका प्रेम भी घटने लगा क्योंकि मनु का प्रेम कायिक था, वासना की गन्ध से भरा था तथा स्वार्थ से सना था:—

"मनु ने देखा जब श्रद्धा का
वह सहज खेद से भरा रूप।
अपनी इच्छा का दृढ़ विरोध,
जिसमें वे भाव नहीं अनूप।
वे कुछ भी बोले नहीं, रहे
चुप चाप देखते साधिकार।

श्रद्धा मनु के भावों को समझ गई। उसे अवगत हो गया कि मनु का प्रेम उसके प्रति घट रहा है।

श्रद्धा कुछ कुछ मुसुकरा उठी,
ज्यों जान गयी उनका विचार।

परन्तु मनु का प्रेम कम होने पर भी श्रद्धा का प्रेम-कम नहीं होता क्योंकि उसके प्रेम का सिद्धान्त विनिमय नहीं है, लेन देन नहीं है, प्रेम की वणिग्वृत्ति नहीं है, वहाँ तो आत्मा का चिर मिलन हो गया है। इसी कारण तो श्रद्धा प्रेम क्षेत्र में परिवर्तन की तुच्छ प्रतीक्षा नहीं करती:—

विनिमय प्राणों का यह कितना भय संकुल व्यापार अरे।
देना हो जितना दे दे तू लेना! कोई यह न करे।
परिवर्तन की तुच्छ प्रतीक्षा पूरी कभी नहीं हो सकती।
संध्या रवि दे कर पाती है इधर उधर उडुगन बिखरे॥

क्योंकि श्रद्धा समर्पण करते समय यह कह चुकी है:—

इस अर्पण मे कुछ और नही
केवल उत्सर्ग झलकता है।
मै दे दूँ और न फिर कुछ लूँ
इतना ही सरल झलकता है।

श्रद्धा के उपर्युक्त वचनो से प्रसाद जी का प्रेम-तत्त्व स्पष्ट हो जाता है। यहाँ प्रेम का लौकिक पक्ष इतना दिव्य, इतना उच्च, इतना विशद है कि वह स्वयं अलौकिक हो गया है। इसी को सच्चा निष्काम प्रेम कहते हैं। इसमे न कोई चाह है, न कोई आशा। यहाँ केवल देना ही देना है; लेना कुछ नहीं। प्रिय की उपेक्षा, उदासीनता, अपमान सहने पर किम्बहुना प्रिय द्वारा त्यागे जाने पर भी प्रेमी का प्रेम कम नहीं होता। वस्तुतः ऐसे ही प्रेम की पवित्र भूमि मे पाप भी पुण्य हो जाता है, वेदना मे मधुरता आ जाती है, जीवन की पीड़ायें सुमन सी हँसने लगती है, आत्मा मे अमर ज्योति उत्पन्न हो जाती है, चेतना मे विस्फार आ जाता है, जीवन मे नव जागरण छा जाता है, सर्वत्र शिवत्व का दर्शन होने लगता है, आनन्द का अखण्ड लोक अपने चारो ओर फैला हुआ दिखाई देने लगता है। जैसा कि श्रद्धा के जीवन मे हुआ।

प्रेम ही गार्हस्थ-सुख का प्रधान साधन है। इसके अभाव मे सारी सम्पत्ति, सम्पूर्ण ऐश्वर्य तथा सन्तति-सुख रहने पर भी आनन्द तथा शान्ति नही मिलती, अहर्निशि देवासुर संग्राम मचा रहता है, गृहस्थी नरक तुल्य बन जाती है। प्रसाद जी ने श्रद्धा के कौटुम्बिक प्रेम द्वारा यह बतलाया है कि पारिवारिक सुख प्राप्त करने का प्रधान साधन क्षमा तथा सहनशीलता-युक्त प्रेम है। कौटुम्बिक जीवन में जो व्यक्ति दूसरो की छोटी-छोटी बातो पर चिढ़ जाता है या तुच्छ त्रुटियों पर अप्रसन्न हो जाता है या जो अपने

सम्बन्धियों से भी प्रतिकार या प्रतिशोध लेना चाहता है तथा जो अपने आत्मीय जनों को साधारण अपराधों या दोषों पर दण्ड देना चाहता है ; वह कभी पारिवारिक जीवन का आनन्द नहीं प्राप्त कर सकता। मनु का जीवन कुछ इसी प्रकार का है इसलिए उन्हे कौटुम्बिक जीवन का सच्चा सुख कभी नहीं मिला। श्रद्धा अपने पारिवारिक जीवन मे मनु के दोषों को क्षमा कर, उनकी त्रुटियों की उपेक्षा कर, उनके अपराधो को सहन कर सदा अपना व्यवहार अच्छा बनाये रखने का प्रयत्न करती है इसलिए वह सदा आनन्दित रहती है।

दाम्पत्य जीवन का सच्चा सुख पुरुष को स्त्री-भक्त या स्त्री का गुलाम बनने से नहीं मिलता। युवती स्त्री का प्रेम पाने के लिए पुरुष में पूर्णता की आवश्यकता है; कामुक या विलासी बनने की नहीं। जिस पुरुष मे शक्ति, शील तथा सौन्दर्य की जितनी ही अधिक पूर्णता होगी वह उतना ही अधिक नारी का प्रेम प्राप्त करने में सफल होगा। जो पुरुष स्त्री की स्वाभाविक वासना को पहचान कर उसे पूर्ण करने का प्रयत्न करता है उसी पर स्त्री रीझती है, उसी को दाम्पत्य जीवन का सच्चा सुख मिलता है; मनु जैसे विलासी पुरुष को दाम्पत्य जीवन का सुख कभी नहीं मिल सकता।

पुरुष स्त्री का वास्तविक मिलन सन्तति द्वारा ही होता है। इसके पहले का मिलन तो केवल शारीरिक होता है। सन्तति एक ऐसी उभयनिष्ठ वस्तु है जहाँ दोनों शरीर से ही नहीं वरन् आत्मा से मिलते हैं। पुरुष स्त्री मे वास्तविक अभेदत्व स्थापित करने का श्रेय सन्तति को ही है। सन्तति वस्तुतः दोनो की निराकार आत्माओं का चिरमिलित साकार रूप है, दोनो के प्रेम के चरम विकास की पूर्ण प्रतिमा है। इसी लिए हमारे यहाँ गृहस्थी की

पूर्णता सन्तति में मानी गई है। सन्तति रहते हुए भी वात्सल्य के अभाव में मनु श्रद्धा से आत्मा से न मिल सके, उससे अभेदत्व स्थापित न कर सके, उसका सत्स्वरूप न समझ सके, गृहस्थी की पूर्णता प्राप्त न कर सके तथा उन्हें दूर दूर भटकना पड़ा और जब तक वात्सल्य पैदा नहीं हुआ तब तक उनके कल्याण का पथ अवरुद्ध रहा। सन्तति होने पर जिस पुरुष में जितना ही अधिक पितृत्व होगा, जितना ही अधिक वात्सल्य होगा उस पर उसकी स्त्री उतना ही अधिक रीझेगी, वह उतना ही अधिक स्त्री के स्वरूप को समझ सकेगा, उसके प्रेम को उतना ही अधिक प्राप्त कर सकेगा। जब श्रद्धा 'मानव' को इड़ा के पास सौंप मनु को दूसरी बार खोजते-खोजते पा जाती है तब मानव की अनुपस्थिति मे मनु के हृदय मे वात्सल्य प्रेम जगता है। वे मानव के लिए व्याकुल होकर तड़पने लगते हैं। वात्सल्य प्रेम जगते ही मनु को शिव के रूप मे श्रद्धा का दर्शन होता है। यहाँ शिव दर्शन द्वारा प्रसाद जी ने बताया है कि वात्सल्य प्रेम एक ऐसी दिव्य ज्योति है जिसके द्वारा मंगलमयी नारी का मंगलमय रूप स्पष्ट दिखलाई पड़ता है।

प्रसाद का प्रेम उत्तरोत्तर विकास शील पथ पर चलता है। वह सान्त से अनन्त की ओर, ससीम से असीम की ओर, व्यष्टि से समष्टि की ओर निरन्तर विकसित होता रहता है। उसमें सर्वभूतहित की अपरिवर्तनीय इच्छा, आत्मा का अमित विस्तार, हृदय की विशालता, त्याग की उच्च मानसिक भूमि प्रतिष्ठित है। इस पवित्र प्रेम की उच्च भूमि में व्यष्टि प्रेम भी इतना विशाल तथा विशद क्षेत्र रखता है कि इसमें कहीं भी मानसिक संकोच, हृदय-दौर्बल्य या आत्मिक संकीर्णता का स्थान नहीं। श्रद्धा मनु से अनन्य प्रेम रखते हुए भी विश्व के अन्य प्राणियों से

सम्बन्ध विच्छेद नहीं करती। मनु से अनन्य प्रेम करते हुए भी सव भूतहित की उपासना में कभी नहीं चूकती, एक व्यक्ति से प्रेम करते हुए भी अपने हृदय को ससीम नहीं बनाती। उसका व्यष्टि प्रेम उसे समष्टि प्रेम से अलग नहीं करता प्रत्युत उसी ओर अग्रसर करता है। प्रसाद का शुद्ध सात्त्विक प्रेम चाहे व्यष्टि हो या समष्टि; सदा हृदय को विकसित करता है, चेतना को विशद बनाता है, मन मे उच्चता तथा पवित्रता लाता है, आत्मा में अमर ज्योति भरता है।

प्रसाद जी व्यष्टि प्रेम तथा कौटुम्बिक प्रेम को विश्व प्रेम की सीढ़ी मानते हैं। व्यक्ति व्यष्टि प्रेम से ही अपने स्व से बाहर निकलना प्रारम्भ करता है, उसका त्याग, पर के लिए बढ़ने लगता है, उसका आत्म-विस्तार शनैः शनैः विकसित होने लगता है। इस प्रकार आत्म-विस्तार करते-करते अन्ततोगत्वा व्यक्ति सम्पूर्ण विश्व को कुटुम्बवत् देखने लगता है, निज और पर का भेद मिट जाता है, सारी वसुधा उसकी नीड़ बन जाती है। श्रद्धा में विश्व-प्रेम इसी प्रकार विकसित हुआ है। श्रद्धा प्रथम मनु से अनन्य प्रेम करती है। उनके लिए अपने हृदय की सारी निधियाँ लुटा देती है। अपना सम्पूर्ण स्व उत्सर्ग कर देती है। मनु के प्रति उसका प्रेम अन्य जीवो से प्रेम, दया, करने में साधक होता है, बाधक नहीं। तभी तो वह पशु की हिंसा पर मनु से रूठ जाती है, निरीह पशुओ का शिकार करने से मनु को रोकती है। श्रद्धा का हृदय इतना उदार तथा चेतना इतनी विशाल बन गई है कि वह अपने सुहाग छीनने का कारण बननेवाली इड़ा से भी ईर्ष्या नहीं करती। ऐसे अवसर पर 'पदमावत' मे पदमावती और नागमती में असूया का भाव उत्पन्न हो जाता है किन्तु श्रद्धा और इड़ा में नहीं। इड़ा अपने को श्रद्धा का सुहाग

छीनने का कारण समझकर मलिन तथा उदास पड़ जाती है। परन्तु श्रद्धा का विशाल हृदय उसे क्षमा कर कैसा सुन्दर आश्वासन देता है:—

बोली "तुमसे कैसी विरक्ति,
तुम जीवन की अन्धानुरक्ति,
मुझसे बिछुड़े को अवलम्बन
देकर, तुमने रक्खा जीवन।"

श्रद्धा के अनन्य प्रेम में मोह या ममता कभी उसे कर्तव्य-पथ से च्युत नहीं करती। राष्ट्र-कल्याण के लिए अपने इकलौते पुत्र मानव को सारस्वत प्रदेश में इड़ा के पास छोड़ने में तनिक भी मोह या दुःख नहीं करती। श्रद्धा की इस विश्वमूर्ति को देखकर मनु स्वयं कह उठते हैं:—

"कुछ उन्नत थे वे शैल-शिखर,
फिर भी ऊँचा श्रद्धा का सिर।
वह लोक अग्नि में तप गल कर,
थी ढली स्वर्ण प्रतिमा बनकर।
मनु ने देखा कितना विचित्र,
वह मातृमूर्ति थी विश्वमित्र॥"

श्रद्धा की इस मंगलमयी विश्व मूर्ति का दर्शन कर मनु में भी विश्व-पिता का भाव जग जाता है, अज्ञान आवरण खुल जाता है, व्यष्टि भाव दूर हो जाता है, वे परम प्रेम की ज्योति में जड़-चेतन, सुख दु:ख, पाप-पुण्य को एकाकार होते हुए देखते हैं। वे अपने को समष्टि में लीन करने के लिए श्रद्धा से उस परम प्रेम तक ले चलने को कहते हैं:—

"श्रद्धे! बस तू ले चल!
उन चरणों तक दे निज सम्बल।

"सब पाप पुण्य जिसमे जल जल,
पावन बन जाते है निर्मल।
मिटते असत्य से ज्ञान लेश,
समरस अखण्ड आनन्द वेश।"

परम प्रेम की प्राप्ति के लिए प्रसाद जी नारी को सम्बल रूप में मानते है; बाधा रूप में नहीं। इनके यहाँ नारी नर को अध्यात्म प्रेम से च्युत नहीं करती प्रत्युत उसका हाथ पकड़कर उस पथ पर ले चलती है। नारी को अध्यात्म पथ मे बाधा माननेवाले भक्त कवियों ने केवल उसे कामिनी रूप मे देखा एवं वासना-तृप्ति का केवल प्याला समझा। उसकी मंगलमयी, लोकसेवी, शक्तिस्वरूपा विश्वमूर्ति पर ध्यान नहीं दिया। प्रसाद की नारी सर्जन शक्ति की प्रतीक है; लोक मंगल की प्रतिमा है। वह अपने लिए नही प्रत्युत दूसरो के लिए विश्व की रंगभूमि मे आई है। उसके जीवन का प्रत्येक श्वास अपना नहीं पराया है। परार्थ ही उसका सबसे बड़ा स्वार्थ है। स्वभाव तथा जन्म से उसमे लोक धर्म अधिक है। उसका वात्सल्यमय जननी रूप सदैव सजग रहता है। वह किसी भी परिस्थिति में अपने मातृत्व को नहीं भूलती। उसका प्रेम धरणी के समान क्षमा-शील आकाश के समान उच्च तथा निर्मल एवं समुद्र के समान गंभीर है, वह जरा मरण रहित है। वह लौकिक होत हुए भी अलौकिक है। वह असीम अमोघ शक्ति से भरा है क्योकि वह सदा निष्काम तथा निःस्वार्थ रहता है। इसी पावन-प्रेम के आधार पर परम-प्रेम की कल्पना की गई है। उसका यह पावन प्रेम ही व्यष्टि तथा समष्टि के मंगल का हेतु है। भला ऐसी नारी को त्याग नर का उद्धार कहाँ हो सकता है? ऐसी ही नारी, श्रद्धा की प्रेम ज्योति से मनु का अज्ञान

पटल खुला, उन्हे अमर ज्योति का दर्शन हुआ, उनकी भेद बुद्धि नष्ट हुई, स्वार्थ तथा स्वायत्त की भावना दूर हुई।

प्रसाद जी की दृष्टि मे प्रेम स्वच्छन्द हो सकता है परन्तु नियमों में स्वच्छन्दता नहीं आनी चाहिए। व्यष्टि तथा समष्टि दोनों के कल्याण के लिए स्वच्छन्द प्रेम में भी मर्यादा तथा सामाजिक नियमों का पालन आवश्यक है। प्रेम की स्वच्छन्दता के साथ साथ नियमो मे स्वच्छन्द होने पर व्यक्ति में उच्छृंखलता तथा समाज मे विशृंखलता उत्पन्न हो जाती है। परिणाम स्वरूप ऐसे प्रेमियों के चारो ओर घोर संघर्ष, विप्लव तथा अशान्ति छा जाती है। मनु सारस्वत प्रदेश में जाकर प्रेम की स्वच्छन्दता के साथ-साथ नियमो में स्वच्छन्द बनना चाहते है, सामाजिक मर्यादा तथा बन्धन की उपेक्षा करते है। परिणाम स्वरूप उनके विरुद्ध एक घोर विप्लव उत्पन्न होता है।

कायिक या भौतिक प्रेमी मानव जीवन का कोई महान् उद्देश्य सिद्ध नहीं कर सकता। जीवन मे महान् उद्देश्य की सिद्धि के लिए आध्यात्मिक या आत्मिक प्रेम की आवश्यकता है, क्योंकि जब तक कोई व्यक्ति किसी उद्देश्य या ध्येय से अभेदत्व स्थापित नहीं करेगा तब तक वह सिद्ध नहीं हो सकता और अभेदत्व स्थापित करने के लिए आत्मिक प्रेम की आवश्यकता है; कायिक या भौतिक प्रेम की नहीं। मनु कायिक या भौतिक प्रेमी होने के कारण राष्ट्र (सारस्वत प्रदेश) के साथ अभेदत्व स्थापित न कर सके। अतः वे राष्ट्र कल्याण मे असफल रहे। श्रद्धा आत्मक या आध्यात्मिक प्रेमी होने के कारण सम्पूर्ण राष्ट्र के साथ अभेदत्व स्थापित करने में सफल हुई, तभी तो अपने इकलौते पुत्र मानव को राष्ट्र-कल्याणार्थ वहाँ छोड़ने मे तनिक भी नहीं हिचकती। प्रसाद का आध्यात्मिक प्रेम कही भी केवल व्यक्ति

की आनन्द साधना के लिए नहीं होता। प्रसाद के आध्यात्मिक प्रेमी समाज से तटस्थ रहते हुए भी समाज से सम्पर्क रखते है, समाज से दूर रहते हुए भी समाज का कल्याण करते हैं तथा समाज से संन्यस्त होते हुए भी समाज के उपकारी सिद्ध होते है। जब श्रद्धा और मनु समाज से संन्यस्त होकर तपोवन में आध्यात्मिक साधना में लीन है तब भी तीर्थयात्री उस तपोवन मे जाकर उनके दर्शन से अपना पाप मोचन करते है तथा उनके अमृतोपम उपदेश से अमर ज्योति प्राप्त करते हैं।

प्रेम का वास्तविक क्षेत्र हृदय है, बुद्धि नहीं। जो हृदय-क्षेत्र छोड़कर बुद्धि-क्षेत्र मे प्रेम पल्लवित करना चाहेगा उसे मनु की तरह पग-पग पर ठोकरें खाना पड़ेगा। तर्क, बुद्धि या बनावटी नियमो के राज्य में प्रेम पनप नहीं सकता। मनु श्रद्धा (हृदय) का राज्य छोड़ इड़ा (बुद्धि) के क्षेत्र में प्रेम की तृप्ति करना चाहते है। परिणाम स्वरूप उन्हे असफलता, संघर्ष, विप्लव, युद्ध, अशान्ति का सामना करना पड़ता है और जब तक वे हृदय (श्रद्धा) के समीप नहीं जाते तब तक उन्हे शान्ति नहीं मिलती। हृदय (श्रद्धा) को ठुकराने का यह उचित बदला मनु को मिला।

श्रद्धा के यहाँ से मनु का भागना सच्चे प्रेम के क्षेत्र से वासना, स्वार्थ, स्वायत्त, अहमहमिका आदि अनात्मिक वृत्तियो का भागना है। प्रेम मे शिवत्व तभी आता है जब उसका आधार शरीर नहीं वरन् आत्मा हो जाता है। जब तक मनु के प्रेम का आधार शरीर रहा तब तक उन्हे शिवत्व (मंगल तत्त्व) कहीं नहीं मिला। ज्योंही उनके प्रेम का आधार आत्मा हो जाता है, ज्योंही वे श्रद्धा से आत्मिक रूप से मिलते हैं त्योंही उन्हे शिव का साक्षात् दर्शन चारो ओर होने लगता है। कवि ने यहाँ स्पष्ट बताया है कि प्रेम का सच्चा रूप आत्मिक है, शारीरिक नहीं। उसके प्राप्त

करने पर चारो ओर मंगल तथा आनन्द का दर्शन होने लगता है, पुण्य पाप से, गुण अवगुण से तथा प्रकाश अन्धकार से मिलकर एक हो जाते है, सब पहचाने से लगते हैं, तथा मानव चेतना निर्विकार होकर हँसने लगती है।

मानव जीवन का चरम लक्ष्य परम प्रेम आनन्द धाम तक पहुँचना है। परम प्रेम आनन्द धाम तक पहुँचने का एक मात्रा साधन शुद्ध सात्त्विक प्रेम है। प्रेम के इस परम लक्ष्य को प्रसाद जी ने अपनी प्रारम्भिक रचना 'प्रेम पथिक' मे स्पष्ट कर दिया था।

"इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन मे टिक रहना।
किन्तु चले जाना उस हद तक जिसके आगे राह नहीं।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसाद जी कामायनी मे अपने उक्त निर्दिष्ट गन्तव्य स्थान पर पहुँच गये है।

कामायनी में कर्म का स्वरूप

कामायनी के दार्शनिक सिद्धान्त की व्यावहारिकता स्पष्ट करने के लिए उसके कर्म-सिद्धान्त पर विचार करना आवश्यक है। महाकाव्य में जीवन की पूर्णता के लिए सत्-असत्, उचित-अनुचित, कर्तव्त-अकर्तव्य तथा राम-रावण दोनों पक्ष दिखाया जाना अपेक्षित है; हाँ आवश्यकता इस बात की है कि सदाचार की रक्षा के लिए उनका उचित परिणाम दिखाया जाय। महाकाव्य ही नहीं वरन् सभी प्रकार के काव्यों का साध्य विषय सत् की विजय तथा असत् की पराजय दिखाना होता है जिससे पाठको के हृदय में सत् के प्रति प्रेम तथा असत् के प्रति घृणा उत्पन्न हो। महाकाव्य में किसी समस्या का समाधान या सिद्धान्त का प्रतिपादन कवि का मूल उद्देश्य रहता है। किसी भी समस्या का समाधान या सिद्धान्त का प्रतिपादन तभी प्रौढ़ तथा स्पष्ट होता है, जब उसके पक्ष-विपक्ष दोनो स्वरूपों का सम्यक् विवेचन उचित परिणाम सहित दिखाया जाय। इस सिद्धान्त का पालन प्राचीन काल से सत्साहित्य में होता आया है और आगे भी होना आवश्यक है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसाद जी ने कामायनी में कर्म के सत्-असत् दोनों स्वरूपो पर बराबर ध्यान रखा है और उनका उचित परिणाम दिखाया है। देवसृष्टि मे देवताओं का कर्म असत् रहा। वे दम्भी, अहकारी तथा विलासी थे अत: उनका सर्वनाश हुआ। मनु का कर्म जहाँ जहाँ असत् या अनुचित रहा वहाँ वहाँ उन्हे हार खानी पड़ी, कष्ट उठाना पड़ा तथा पतन की ओर जाना पड़ा। श्रद्धा सदा सत्कर्म-परायण

रही अतः उसका पतन कहीं नहीं हुआ, उसे कहीं हार नही खानी पड़ी, आनन्द ने उसका साथ कभी नहीं छोड़ा।

वस्तुतः कामायनी मे प्रसाद जी के कर्म की वस्तुस्थिति न बाह्य त्याग या संकोच मे है और न बाह्य उत्तेजना या उपभोग मे। वे निवृत्तिमूलक तप या साधना को केवल जीवन सत्य नहीं मानते प्रत्युत उसे जीवन का करुण क्षणिक दीन अवसाद मानते हैं—

"तप नहीं केवल जीवन सत्य।
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद।"

वह तप जिसमें अन्तर्मुखी त्याग नहीं, जिसमें आत्म विस्तार नहीं वह दीनो तथा कायरो का त्याग है क्योकि वे इतने वीर नही कि समाज के समक्ष विश्व की रंगस्थली मे अपनी प्रभुता दिखाते हुए षड्रिपुओ का सामना कर सकें। इसी लिए वे सामाजिक समराङ्गण से भाग विश्व से बहुत दूर किसी जंगल के कोने मे ऐकान्तिक साधना को शरण लेते है, जहाँ षड्रिपुओ के आगमन की कोई सभावना ही नहीं है। इस ऐकान्तिक साधना या निवृत्ति-मूलक तप से यदि कुछ लाभ या मगल हो सकता है तो व्यक्ति का ही समाज का नहीं। इसमे व्यक्ति सब कुछ अपने लिए सग्रह करता है, समाज को कुछ नहीं देता। प्रसाद जी के लिए वह कर्म जिसमे लेना ही साध्य हो—शवता है, मृत्यु है; जीवन नहीं जिस कर्म द्वारा विश्व की मंगल-वृद्धि मे कुछ सहयोग मिले वही सत्कर्म है, वही जीवन है, वही उज्ज्वल स्वस्थ मानवता है:—

"मनु क्या यही तुम्हारी होगी,
उज्वल नव मानवता।

जिसमें सब कुछ ले लेना हो,
हन्त बची हो शवता।"

प्रसाद जी के कर्म की सीमा व्यष्टि से सीमित नहीं वह समष्टि तक व्याप्त है, उनकी दृष्टि में व्यक्ति अपने कर्मों की सीमा अपने ही तक रख कर न अपना विकास कर सकता है न समाज का :—

"अपने में सब कुछ भर कैसे,
व्यक्ति विकास करेगा।
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है,
अपना नाश करेगा।"

प्रसाद जी यह भली भाँति जानते है कि यदि व्यक्ति सामाजिक न हुआ होता, यदि उसका कर्म सामाजिक मंगल की दृष्टि से न हुआ होता तो वह आज साम्प्रत विकास को न पहुँचा होता। सामाजिक विकास की उपेक्षा करनेवाले व्यक्ति को भी अपने विकास के लिए सामाजिक बनना पड़ेगा तथा ज्ञात या अज्ञात रूप से उसे अपने कर्मों को सामाजिक मंगल की ओर उन्मुख करना पड़ेगा :—

"सुख समीर पाकर चाहे हो,
वह एकान्त तुम्हारा।
बढ़ती है सीमा संसृति की,
बन मानवता धारा।"

प्रसाद जी निवृत्तिमूलक ऐकान्तिक साधना करनेवाले व्यक्ति को भी निर्जन या एकाकी अवस्था मे नहीं रहने देना चाहते। उसे समाज के बीच बिठाना चाहते हैं क्योंकि उसके तप का मौन प्रभाव दूसरो पर अच्छा पड़ेगा तथा उसके दर्शन से दूसरों की भावनाएँ पवित्र होंगी—

"निर्जन मे क्या एक अकेले,
तुम्हें प्रमोद मिलेगा।
नहीं इसी से अन्य हृदय का,
कोई सुमन खिलेगा।"

यदि ज्ञात या अज्ञात किसी भी प्रकार से व्यक्ति अपने कार्यों को लोक-मगल की ओर उन्मुख नहीं करता, तो वह समाज जिसको उसने अपने स्वार्थ या विकास का साधन बनाया है, उसका घोर विरोध करेगा चाहे वह मनु जैसा नियामक ही क्यो न हो। जब मनु ने उच्छृंखल विलासोन्मद वासना-तृप्ति के वेग में लोक-मर्यादा, सामाजिक मंगल की उपेक्षा की तथा प्रकृति-विपर्यय-जन्य पीड़ा से प्रजा की रक्षा नहीं की तो सम्पूर्ण प्रजा ने उनके विरुद्ध घोर विप्लव तथा युद्ध किया।

जब तक कर्म निष्काम नहीं होगा, कर्म से वासना का संहार नहीं होगा तब तक स्वस्थ मानवता का दर्शन नहीं हो सकता। अतः कर्म उपभोग की वस्तु नहीं वरन् त्याग और सेवा की वस्तु है। इसी बात को श्रद्धा ने कर्म सर्ग मे मनु को अच्छी तरह समझाया है जब वे कर्म का भ्रान्त अर्थ इन्द्रिय-सुख-साधन, स्वार्थ उपभोग आदि मान रहे थे—

"रचनामूलक सृष्टि यज्ञ यह,
यज्ञ-पुरुष का जो है।
संसृति सेवा भाग हमारा,
उसे विकसने को है।"

किसी प्रकार भी किसी की हिंसा करके वैयक्तिक उन्नति करना या सुख प्राप्त करना सत्कर्म नही है। दूसरो को सुख पहुँचाना, दूसरो के सुख से सुखी तथा दुःख से दुखी होना ही सत्कर्म है—

"औरों को हँसते देखो मनु,
हँसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत कर लो,
सबको सुखी बनाओ।"

प्रसाद के कर्म का अर्थ इन्द्रिय-सुख नहीं, स्वार्थ-साधन नहीं, हिंसा नहीं, काम्य यज्ञ नहीं, दुनिया के गोरखधन्धे नहीं, शोषण या शासन नहीं, शक्ति-प्रदर्शन या युद्ध नहीं। उनके कर्म का अर्थ परोपकार, पर-सेवा, पर-पीड़ा-नाश, दान, त्याग तथा आत्म-विस्तार है। इसे श्रद्धा ने कलियों का उदाहरण लेकर भ्रान्त मनु को विस्तार से समझाया है—

"ये मुद्रित कलियाँ दल में सब
सौरभ बन्दी कर ले।
सरस न हो मकरन्द विन्दु-से
खुलकर तो ये मर ले॥
सूखें, झड़े और तब कुचले
सौरभ को पाओगे।
फिर आमोद कहाँ से मधुमय
वसुधा पर लाओगे।
सुख अपने सन्तोष के लिए
संग्रह मूल नहीं है।"

× × ×

"सुख को सीमित कर अपने में
केवल दुख छोड़ोगे।
इतर प्राणियों की पीड़ा लख
अपना मुँह मोड़ोगे।"

वसुधा पर आमोद-रूपी आनन्द की सृष्टि कलियों के समान त्याग, दान, आत्म-विस्तार तथा पर-सेवा-पूर्ण कर्म से हो सकती है, स्वार्थ रूपी सौरभ-सुख को बन्दी करने से नहीं। वह कर्म जिससे व्यष्टि तथा समष्टि दोनों का सुख सिद्ध नहीं होता वह अन्ततोगत्वा दुःखदायक होता है। व्यष्टि तथा समष्टि के विकास में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है अतः व्यष्टि तथा समष्टि के कर्म एक दूसरे के पूरक होने चाहिए। व्यष्टि का कर्म जब समष्टि के मगल मे सहायक सिद्ध नहीं होगा तो समष्टि उस व्यक्ति को मनु के समान धराशायी कर देगी। उसी प्रकार जब समष्टि व्यष्टि विकास की पूरक सिद्ध नही होगी तो व्यष्टि उससे अपना नाता तोड़ उसकी सत्ता को मिटा देने का प्रयत्न करेगा। व्यष्टि-विकास की उपेक्षा करनेवाले सभी राज्यों तथा संस्थाओं के मिटने का मूल कारण यही रहा है।

कामायनी मे सदाचार की रक्षा के लिए असत् कर्मों का उचित परिणाम उचित मात्रा मे वर्तमान है। देवताओं के असत् कर्म—दम्भ, वासना की उपासना, उन्मत्त विलास आदि का परिणाम प्रलय से अधिक हो ही क्या सकता था? किलाताकुलि के पौरोहित्य से पशुहिंसापूर्ण काम्य यज्ञ मनु ने किया। परिणाम स्वरूप मनु के सुख, उल्लास, भोग की आलम्बन श्रद्धा उनसे रूठ गई। इस प्रकार कातर पशु की हिंसा मनु के सुख तथा उल्लास मे बाधक हुई।

"जिसका था उल्लास निरखना
वही अलग जा बैठी।
× × ×
वही प्रसन्न नहीं? रहस्य कुछ
इसमे सुनिहित होगा।

"आज वहीं पशु मर कर भी क्या
सुख में बाधक होगा ?"

जिस किलाताकुलि के पौरोहित्य से मनु ने यह काम्य-यज्ञ किया वे ही मनु के विरुद्ध सारस्वत नगर में विप्लव के प्रधान नेता बने—

"कायर तुम दोनों ने ही उत्पात मचाया।
अरे, समझकर जिनको अपना था अपनाया।"

आत्म-विस्तार हीन मनु का श्रद्धा के पुत्र प्रेम से ईर्ष्या कर भाग जाना असत् कर्म है। परिणाम-स्वरूप मनु को सर्वत्र नाना प्रकार की यातनाएँ सहनी पड़ीं, वे इधर-उधर मारे मारे फिरे, राष्ट्र के नियामक होने पर भी सुख या शान्ति न प्राप्त कर सके। बुरे या असत् कर्मों में नाश की शक्ति स्वयं छिपी है; जिसके समक्ष बड़े से बड़े राष्ट्र-नियामक ही नहीं महान् से महान् चक्रवर्ती सम्राट् भी परास्त हो चुके हैं; देवशक्ति भी हार खाकर प्रलय की गोद में जा चुकी है। ठीक उसी प्रकार सत्कर्मों में उत्थान का बीज समाया है जो ज्ञात या अज्ञात रूप से पल्लवित होते हुए कर्ता को इतनी महान् शक्ति प्रदान करता है कि वह नर से नारायण हो सकता है। श्रद्धा को कल्याण-धाम, मंगल-प्रतिमा, शक्ति-स्वरूपा, विश्वमित्र, मातृमूर्ति बनाने का श्रेय सत्कर्मों को ही है।

कामायनी के घटनाचक्र कुछ ऐसे विषम हैं कि जिससे काव्य में असत् कर्म की ही व्याप्ति सत्कर्म से अधिक दिखाई पड़ती है। यद्यपि सत् तथा असत् कर्मों का उचित परिणाम दिखाने से काव्य की साध्यावस्था में कुछ अन्तर नहीं पड़ता किन्तु सत्कर्मों की व्याप्ति असत् कर्मों से कम होने से काव्य की साधनावस्था की गुरुता, गंभीरता तथा महत्ता नष्ट हो जाती है।

इसीलिए यह बात - शुक्ल जी को बहुत खटकी थी जिसका संकेत उन्होंने अपने इतिहास मे किया है। कर्म लोक का वर्णन करते समय भी कवि को वहाँ केवल असत् कर्म ही अधिक दिखाई पड़ते है। कवि चारो ओर पीड़ा, विकलता, हिंसा, तृष्णा, संघर्ष, असन्तोष, विफलता, वासना की प्यास, शोषण, दम्भ, भूख की ज्वाला ही देखता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कर्म लोक के इस भीषण चित्रण मे वर्तमान युग के असत् पक्ष का ही प्रभाव कवि पर अधिक पड़ा है।

१. कर्म को कवि ने या तो काव्य यज्ञों के बीच दिखाया है अथवा उद्योग धन्धों या शासन-विधानों के बीच।

पृष्ठ ८३५ हि० सा० का इतिहास रा० च० शुक्ल।